देश सेवकों
के
संस्मरण
सत्साहित्य प्रकाशन

देश-सेवकों के संस्मरण

—महात्मा गांधी की कलम से—

संपादक
विष्णु प्रभाकर

१९५८

सस्ता साहित्य प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय,
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली ।
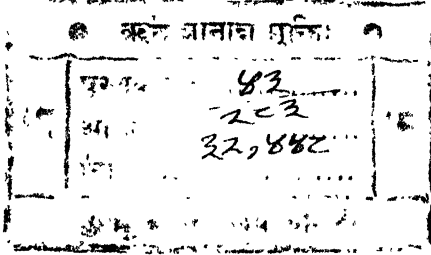
नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद की सहमति से

पहली बार : १९५८

मूल्य
एक रुपया २५ नये पैसे

मुद्रक
नशनल प्रिंटिंग वर्क्स,
दिल्ली

प्रकाशकीय

अपने समय के छोटे-बड़े अनेक देश-सेवकों और सेविकाओं के विषय में गांधीजी ने बहुत ही भावपूर्ण संस्मरण लिखे हैं। थोड़े-से-थोड़े शब्दों में उन्होंने ऐसे चित्र खींचे हैं कि पढ़कर हृदय गद्‌गद् हो जाता है। कहीं-कहीं तो ऐसा जान पड़ता है, मानो हम कोई कविता पढ़ रहे हों। जब शब्द हृदय की गहराई में से उठकर आते हैं तब प्रायः ऐसा ही होता है।

गांधीजी के लिखे इन संस्मरणों का एक विस्तृत संग्रह 'मेरे समकालीन' के नाम से 'मंडल' से प्रकाशित हो चुका है। प्रस्तुत पुस्तक की सामग्री उसी-में से ली गई है। बड़े संग्रह में कुछ ऐसे व्यक्तियों के भी संस्मरण आ गये हैं, जो सौभाग्य से आज हमारे बीच विद्यमान हैं। इस पुस्तक में केवल दिवंगतों में से ही कुछ चुने हुए संस्मरण लिये गये हैं। इन संस्मरणों को पढ़कर पाठकों को बहुत से देश-सेवकों का परिचय मिलेगा, वह भी ऐसे महापुरुष की कलम से, जिसके स्वयं के जीवन का प्रत्येक क्षण सेवा में ही व्यतीत हुआ था। वैसे तो इस पुस्तक को जो भी पढ़ेगा, उसीको लाभ होगा, लेकिन युवकों के लिए तो यह बहुत ही उपयोगी है।

हमें आशा है, प्रत्येक शिक्षा-संस्था के छात्र और छात्राओं के हाथ में यह पुस्तक पहुंचेगी और वे इससे देश-सेवा की शिक्षा ग्रहण करेंगे।

—मंत्री

आमुख

प्रसिद्ध गायक श्री दलीपकुमार राय से बातचीत करते हुए सन् १९३४ में गांधीजी ने कहा था—"जीवन समस्त कलाओं से श्रेष्ठ है। मैं तो समझता हूं कि जो अच्छी तरह जीना जानता है वही सच्चा कलाकार है। उत्तम जीवन की भूमिका के बिना कला किस प्रकार चित्रित की जा सकती है। कला के मूल्य का आधार है जीवन को उन्नत बनाना। जीवन ही कला है।"[१] साहित्य को इस दृष्टि से कला से अलग नहीं किया जा सकता। जीवन से इतना अटूट संबंध हो जाने के बाद वह नितांत सरल और सुगम हो जाता है। कदाचित ऐसे ही साहित्य को दृष्टि में रखकर गांधीजी ने इन्हीं श्री राय से कहा था, "वही काव्य और वही साहित्य चिरञ्जीवी रहेगा जिसे लोग सुगमता से पा सकेंगे, जिसे वे आसानी से पचा सकेंगे।" ऐसे साहित्य का सृजन वही कर सकता है, जिसने साहित्य के विषय से साक्षात्कार कर लिया है, अर्थात् जो उसे जीता है। इसीको गांधीजी की भाषा में यों कह सकते हैं कि जो अच्छी तरह जीना जानता है, वह साहित्यिक है। इस दृष्टि से वह एक ऊंचे साहित्यिक थे। निस्संदेह वह एक साहित्यिक के नाते आगे नहीं आये, और न उन्होंने कभी कवि, कथाकार या आलोचक होने का दावा ही किया; परंतु फिर भी जहांतक जीवनी-साहित्य, आत्मकथा, शब्दचित्र और संस्मरण आदि का संबंध है, उनकी पूंजी सहज ही उन्हें प्रथम श्रेणी के लेखकों में ला बैठाती है।

उनकी आत्मकथा (अथवा सत्य के प्रयोग) एक अपूर्व ग्रंथ है। वह सभी दृष्टियों से इस क्षेत्र में स्थापित सभी परंपराओं को खंड-खंड करनेवाली क्रांतिकारी पुस्तक है। उनके घोर-से-घोर विरोधी भी उसकी महानता को मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं।

---

१. हिंदी नवजीवन, १०-२-२४

वस्तुतः गांधीजी ने सच्चे अर्थों में 'आत्मकथा' लिखी है। जीवन में यदि कुछ गोपनीय रह जाता है तो आत्मकथा अधूरी है। सत्य और अहिंसा का परीक्षण करनेवाला वैज्ञानिक अधूरी आत्मकथा नहीं लिख सकता। जिस प्रकार उन्होंने अपना विश्लेषण करते समय सत्य को नहीं छोड़ा है, उसी तरह दूसरों के बारे में लिखते समय उन्होंने अहिंसा को अपना आधार बनाया है। इसलिए उनके साहित्य में जहां उनकी पारदर्शिनी दृष्टि का चमत्कार है, वहां वह मानव के सहज सौंदर्य सहानुभूति से भी आप्लावित है। जब कभी उन्होंने किसीके बारे में लिखने के लिए कलम उठाई है, अपनी सरल, सुबोध और सुगठित भाषा में उस वर्ण्य व्यक्ति का बड़ा ही सहानुभूतिपूर्ण चित्र उतारकर रख दिया है।

वह कभी लिखने के लिए ही किसीका जीवन-वृत्त या संस्मरण लिखने बैठे हों, यह तो उनके लिए संभव नहीं था, परंतु अपने बहुधंधी सार्वजनिक जीवन में उन्हें असंख्य छोटे और बड़े व्यक्तियों के संपर्क में आना पड़ा था। केवल भारत ही नहीं, दक्षिण अफ्रीका में भी अनेकानेक देशी और विदेशी व्यक्तियों से उनका संबंध रहा था। बहुतों से वह संबंध अति प्रगाढ़ और आत्मीयता से छलकता हुआ था। बहुतों के साथ उन्होंने अपने संघर्षमय जीवन के अनेक वर्ष बिताये थे। कुछ के साथ वह कुछ ही दिन रहे थे। उनमें अनेक उनसे बड़े थे, जिनसे उन्होंने बहुत-कुछ सीखा था। बहुत-से उनसे प्रेरणा लेते थे और उन्हें अपना आराध्यदेव मानते थे। बहुत-से उनके विरोधी भी थे, जिनसे उन्हें टक्कर लेनी पड़ती थी। ऐसे भी लोग थे, जिनसे उनका कोई विशेष संबंध तो नहीं था, पर किन्हीं विशेष कारणों से गांधीजी को उन व्यक्तियों में रुचि थी। इनसब व्यक्तियों में 'जाति, लिंग, वर्ण या वर्ग का कोई भेद नहीं था। उनमें राजनीति के धुरंधर पंडित और साधारण स्वयंसेवक, धर्माचार्य और श्रद्धालु भक्त, सम्राट् और सेवक, पूंजीपति और मजदूर, विद्रोही और प्रतिक्रियावादी सभी थे। सभीके बारे में उन्होंने समान भाव और समान रूप से लिखा है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, लिखने के ये अवसर कभी पूर्व योजना के अनुसार नहीं आये। उस बहुधंधी व्यस्त जीवन में न जाने कब किसपर लिखना पड़ जाय, यह कोई नहीं जानता था। फिर भी ऐसे अवसर बहुत आते थे और

साधारणतया उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१. गांधीजी अपने सहयोगियों, समाज के मूक सेवकों या किसी रूप में प्रख्यात व्यक्तियों की मृत्यु पर समवेदना और श्रद्धांजलि के रूप में लिखा करते थे।

२. जब उनके सहकर्मियों और सहयोगियों पर आक्षेप होते थे, तब उनका निराकरण और समाधान करने के लिए उन्हें लिखना पड़ता था।

३. राष्ट्रीय महासभा के सभापति पद के लिए चुने जानेवाले व्यक्ति के बारे में चुनाव के पूर्व या पश्चात् वह कभी-कभी लिखते थे।

४. अपने आंदोलनों में भाग लेनेवालों और उनके विरोधियों के विषय में उन आंदोलनों के दौरान में वह लिखते थे।

५. 'आत्मकथा' और 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' आदि पुस्तकों में तत्संबंधी व्यक्तियों का वर्णन आया है।

६. अनेक व्यक्तियों के जन्म-दिन या जयंती आदि के अवसर पर पत्रों को संदेश और शुभ कामना के रूप में उन्होंने लिखा है।

७. कभी-कभी विशुद्ध संपादकीय कर्तव्य को निबाहने के लिए लिखना पड़ता था।

८. निजी पत्रों में व्यक्तियों की चर्चा आ जाती थी।

यदि उनके साहित्य का काल-क्रम से अध्ययन किया जाय तो एक बात ज्ञात होगी कि शुरू में वह व्यक्तियों के बारे में अधिक लिखते थे, परंतु जैसे-जैसे समय बीतता गया, यह लेखन कम होता गया। जब से उन्होंने 'हरिजन' पत्रों का प्रकाशन किया, तब से तो हरिजन-सेवकों को छोड़कर और किसी-के बारे में वह उन पत्रों में नहीं लिखते थे। इन पत्रों को छोड़कर पुस्तक आदि लिखने का समय अब उनके पास नहीं रहा था। फिर भी इस संबंध में गांधीजी के एक गुण की बात विशेष उल्लेखनीय है। वह संपर्क में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति से, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, विरोधी हो या सहयोगी, अधिक-से-अधिक आत्मीयता स्थापित करने की चेष्टा करते थे। वह उसकी मानव-सुलभ भावनाओं को छूकर उससे बातें करते थे। सबसे पहले वह मानव थे और दूसरों को भी मानव समझते थे और यह सब था अहिंसा के कारण। इस दृष्टि से उनके संस्मरण अध्ययन की वस्तु हैं।

जैसे वह सरल और सशक्त भाषा लिखने में लासानी थे, वैसे ही वह शब्द-चित्र खींचने में भी बहुत कुशल थे। एक तो अपने जीवन के प्रति निर्दिष्ट वैज्ञानिक दृष्टिकोण (सत्य) के कारण, दूसरे विभिन्न विचार और व्यवहार, के इतने अधिक व्यक्तियों के संपर्क में आने के तथा मानवता (अहिंसा) में अपनी आस्था के कारण उनकी परख सही और खरी हो गई थी, और जब दृष्टि पारदर्शी हो जाती है, तो वर्णन स्वत: ही सजीव और मार्मिक हो जाता है। वस्तुत: किसी भी व्यक्ति का ठीक-ठीक विश्लेषण करने में उन्हें अद्भुत कुशलता प्राप्त थी। कम-से-कम और नपे-तुले सार्थक शब्दों में वह वर्ण्य व्यक्ति के अंदर और बाहर का चित्र कागज पर उतारकर रख देते थे। कुछ चित्र देखिये—

"सर फिरोजशाह तो मुझे हिमालय जैसे मालूम हुए, लोकमान्य समुद्र की तरह। गोखले गंगा की तरह। उसमें मैं नहा सकता था। हिमालय पर चढ़ना मुश्किल है, समुद्र में डूबने का भय रहता है, पर गंगा की गोदी में खेल सकते है, उसमें डोंगी पर चढ़कर तैर सकते है।"

"शिष्य होना परम पवित्र, पर व्यक्तिगत भाव है। मैंने १८८८ में दादाभाई के चरणों में अपनेको समर्पित किया, पर मेरे आदर्श से वह बहुत दूर थे। मैं उनके पुत्र के स्थान पर हो सकता था, उनका शागिर्द नहीं हो सकता था। शिष्य का दर्जा पुत्र से ऊंचा है। शिष्य पुत्र-रूप से दूसरा जन्म ग्रहण करता है। शिष्य होना अपनी स्वकीय प्रेरणा से समर्पित करना है...जस्टिस रानडे से मुझे भय लगता था। उनके सामने मुझे बयान करने का भी साहस नहीं होता था। बदरुद्दीन तैयबजी पिता की तरह प्रतीत हुए। उन्होंने मुझे सलाह दी कि फिरोजशाह मेहता और रानडे के परामर्श से काम करो। सर फिरोजशाह तो हमारे संरक्षक बन गये। इसलिए उनकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य थी। जो कुछ वह कहते, मैं चुपचाप स्वीकार करता। बंबई के उस शेर ने मुझे आज्ञा-पालन का मर्म सिखाया। उन्होंने मुझे अपना शागिर्द नहीं बनाया। उन्होंने आजमाइश भी नहीं की।"

"जिस समय मैं उनसे (लोकमान्य तिलक से) मिला, वह अपने साथियों से घिरे बैठे थे। उन्होंने मेरी बातें सुनीं और कहा—'आपका भाषण सार्वजनिक सभा में होना जरूरी है, पर आप जानते हैं कि यहां दलबंदी है।

इससे ऐसा सभापति चाहिए जो किसी दल-विशेष का न हो। यदि इसके लिए आप डाक्टर भांडारकर से मिलें तो उत्तम हो।' मैंने उनकी सलाह स्वीकार की और लौट आया। सिवा इसके कि स्नेहमय मिलाप के भाव प्रदर्शित करके उन्होंने मेरी घबराहट दूर की, नहीं तो लोकमान्य का उस समय मुझपर कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा।...डाक्टर भांडारकर ने मेरा उसी तरह स्वागत किया, जिस तरह गुरु शिष्य का करता है। उनके चेहरे से विद्वत्ता टपक रही थी। मेरे हृदय में श्रद्धा का ज्वार उमड़ आया, पर गुरु-भक्ति का भाव फिर भी न भरा। वह हृदय-सिंहासन उस समय भी खाली रह गया। मुझे अनेक धीर-वीर मिले, पर राजा की पदवी तक कोई न पहुंच सका।"

"पर जिस समय मैं श्रीयुत गोखले से मिलने गया, बातें एकदम बदल गई।... यह मिलन ठीक उसी प्रकार हुआ था, जैसे दो चिर-विछोही मित्रों या माता और पुत्र का होता है। उनकी नम्र आकृति देखकर मेरा हृदय शांत हुआ। दक्षिण अफीका तथा मेरे संबंध में उन्होंने जिस तरह पूछताछ की, उससे मेरा हृदय श्रद्धा से भर गया। उनसे विदा होते समय मैंने अपने दिल में कहा, 'बस, मेरे मन का आदमी मिल गया।' ... १९०१ में दूसरी बार दक्षिण अफीका से लौटा। इस बार मेरी घनिष्ठता और भी प्रगाढ़ हो गई। उन्होंने हाथ में मेरा हाथ लेकर पूछना शुरू किया—'किस तरह रहते हो? क्या कपड़े पहनते हो? भोजन कैसा होता है?' मेरी माता भी इतनी तत्पर नहीं थीं। मेरे और उनके बीच में कोई अंतर नहीं था। यह चक्षुराग था, अर्थात् प्रथम दर्शन से ही हृदय में प्रगाढ़ प्रेम का अंकुर जम गया था।"

इस उद्धरण में गांधीजी ने भारत के तत्कालीन नेताओं का जो तुलनात्मक चित्रण उपस्थित किया है, वह उनकी पारदर्शिनी दृष्टि, उनकी विश्लेषण-शक्ति, उनकी तीव्र और प्रखर अनुभूति को स्पष्ट करता है। गोखले के चित्र में कितनी आत्मीयता है, वह उनके अपने मानवता से छलकते हुए हृदय की झांकी है। श्री जवाहरलाल नेहरू ने अपने जीवन-चरित में गांधीजी के विचारों की अच्छी-खासी आलोचना की है, पर सबकुछ कहकर उन्होंने लिखा है—"लेकिन वह अपने भारत को अच्छी तरह जानते हैं।"

अनुभूति की तीव्रता और वास्तविकता का और भी सुंदर चित्रण उनके संस्मरणों में हुआ है। घटनाओं और वार्तालाप के द्वारा उन्होंने वर्ण्य

व्यक्ति की बाहरी और आंतरिक सुंदरता-कुरूपता की रेखाओं को इस प्रकार उभार दिया है कि इसके पूर्ण परिपाक के साथ-साथ व्यक्ति का संपूर्ण चित्र हृदय पर पत्थर की लीक बन जाता है। कस्तूरबा गांधी, देशबंधुदास, घोषालबाबू तथा वासंती देवी आदि के संस्मरण, इस दृष्टि से बहुत ही सुंदर बने हैं। वासंती देवी का देशबंधु की मृत्यु के बाद, जो चित्र गांधीजी ने खींचा है, वह बहुत ही मानवीय, बहुत ही करुण और बहुत ही यथार्थ है। भावना की अतिरंजना ने उस करुण चित्र को बहुत ही सशक्त बना दिया है।

ये चित्र किसी उद्घोषित साहित्यिक के द्वारा नहीं लिखे गये, बल्कि एक ऐसे मानव द्वारा लिखे गये हैं, जिसका समस्त जीवन 'जीने की कला' के, सत्य के, प्रयोग करने में बीता था, जिसने जीना सीखते-सीखते जिलाने (अहिंसा) को सीख लिया था, जो सबसे पहले और सबसे पीछे मात्र मनुष्य था और ऐसा मनुष्य ही मनुष्य को नहीं पहचानेगा तो कौन पहचानेगा।

इस पुस्तक के संकलन में जिन मान्य व प्रिय बंधुओं ने मुझे सहायता दी है, उनका मैं हृदय से आभारी हूं।

—विष्णु प्रभाकर

विषय-सूची

देश-सेवकों के संस्मरण

: १ :

हकीम अजमल खां

एक जमाना था, शायद सन् '१५ की साल में, जब मैं दिल्ली आया था, हकीम अजमल खां साहब से मिला और डाक्टर अंसारी से। मुझसे कहा गया कि हमारे दिल्ली के बादशाह अंग्रेज नहीं हैं, बल्कि ये हकीम साहब हैं। डाक्टर अंसारी तो बड़े बुजुर्ग थे, बहुत बड़े सर्जन थे, वैद्य थे। वह भी हकीमसाहब को जानते थे, उनके लिए उनके दिल में बहुत कद्र थी। हकीमसाहब भी मुसलमान थे, लेकिन वह तो बहुत बड़े विद्वान् थे, हकीम थे। यूनानी हकीम थे; लेकिन आयुर्वेद का उन्होंने कुछ अभ्यास किया था। उनके वहां हजारों मुसलमान आते थे और हजारों गरीब हिंदू भी आते थे। साहूकार, धनिक मुसलमान और हिंदू भी आते थे। एक दिन का एक हजार रुपया उनको देते थे। जहांतक मैं हकीम साहब को पहचानता था, उन्हें रुपये की नहीं पड़ी थी, लेकिन सबकी खिदमत की खातिर उनका पेशा था। वह तो बादशाह-जैसे थे। आखिर में उनके बाप-दादा तो चीन में रहते थे, चीन के मुसलमान थे, लेकिन बड़े शरीफ थे। जितने हिंदू लोग मेरे पास आये, उनसे पूछा कि आपके सरदार यहां कौन हैं? श्रद्धानंदजी? श्रद्धानंदजी यहां बड़ा काम करते थे। लेकिन नहीं, दिल्ली के सरदार तो हकीमसाहब थे। क्यों थे? क्योंकि उन्होंने हिंदू-मुसलमान सबकी सेवा ही की। यह सन् '१५ के साल की बात मैंने कही। लेकिन बाद में मेरा ताल्लुक उनसे बहुत बढ़ गया और मैंने उनको और पहचाना।[1]

---

[1] प्रार्थना-प्रवचन, १३-९-४७

"'वह हिंदुस्तान के हिंदू, मुसलमान, सिख, क्रिस्टी, पारसी, यहूदी सबके प्रिय थे। वह पक्के मुसलमान थे, मगर वह इस खूबसूरत देश के रहनेवाले सब लोगों की समान सेवा करते थे।[१]
...हकीमसाहब के स्वर्गवास से देश का एक सबसे सच्चा सेवक उठ गया। हकीमसाहब की विभूतियां अनेक थीं। वे महज कामिल हकीम ही नही थे, जो गरीबों और धनियों, सबके रोगों की दवा करता है। वह थे एक दरबारी देश-भक्त, यानी अगर्चे कि उनका वक्त राजों-महाराजों के साथ में बीतता था, मगर थे वह पक्के प्रजावादी। वह बहुत बड़े मुसलमान थे और उतने ही बड़े हिंदुस्तानी थे। हिंदू और मुसलमान दोनों से ही वह एक-सा प्रेम करते थे। बदले में हिंदू और मुसलमान दोनों ही एक समान उनसे मुहब्बत रखते थे, उनकी इज्जत करते थे। हिंदू-मुसलमान एकता पर वह जान देते थे। हमारे झगड़ों के कारण उनके अंतिम दिन कुछ दु:खजनक हो गये थे, मगर अपने देश और देश-बंधुओं में उनका विश्वास कभी नष्ट नहीं हुआ। उनका विचार था कि आखिर दोनों सम्प्रदायों को मेल करना ही पड़ेगा। यह अटल विश्वास लेकर उन्होंने एकता के लिए प्रयत्न करना कभी नहीं छोड़ा। हालांकि उन्हें सोचने में कुछ समय लगा, लेकिन अंत में वह असहयोग-आंदोलन में कूद ही पड़े, अपनी प्रियतम और सबसे बड़ी कृति तिब्बी कालेज को खतरे में डालते वह झिझके नहीं। इस कालेज से उनका इतना प्रबल अनुराग था, जिसका अंदाजा सिर्फ वे ही लगा सकते हैं, जो हकीमजी को भलीभांति जानते थे। हकीमजी के स्वर्गवास से मैंने न सिर्फ एक बुद्धिमान और दृढ़ साथी ही खोया है, बल्कि एक ऐसा मित्र खोया है, जिसपर मै आड़े अवसरों पर भरोसा कर सकता था। हिंदू-मुसलिम एकता के बारे में वह हमेशा ही मेरे रहबर थे। उनकी निर्णय-शक्ति, गंभीरता और मनुष्य-प्रकृति का ज्ञान ऐसे थे कि वह बहुत करके

[१] प्रार्थना-प्रवचन, २९-१२-४७

सही फैसला ही किया करते थे। ऐसा आदमी कभी मरता नहीं है। यद्यपि उनका शरीर अब नहीं रहा, मगर उनकी भावना तो हमारे साथ बराबर रहेगी और वह अब भी हमें अपना कर्त्तव्य पूरा करने को बुला रही है। जबतक हम सच्ची हिंदू-मुसलिम एकता पैदा नहीं कर लेते, उनकी याद बनाये रखने के लिए हमारा बनाया कोई स्मारक पूरा हुआ नहीं कहा जा सकता। परमात्मा ऐसा करें कि जो काम हम उनके जीते-जी नहीं कर सके, वह उनकी मौत से करना सीखें।

हकीमजी कोरे स्वप्नदृष्टा ही नहीं थे। उन्हें विश्वास था कि मेरा स्वप्न एक दिन पूरा होगा ही। जिस तरह तिब्बी कालेज के द्वारा उनका देशी चिकित्सा का स्वप्न फला, उसी तरह अपना राजनैतिक स्वप्न भी उन्होंने जामिया मिलिया के जरिए, पूरा करने की कोशिश की।[1]

: २ :

डा० मुख्तार अहमद अंसारी

डा० अंसारी जितने अच्छे मुसलमान हैं, उतने ही अच्छे भारतीय भी हैं। उनमें धर्मोन्माद की तो किसीने शंका ही नहीं की है। वर्षों तक वह एक साथ महासभा के सहमंत्री रहे हैं। एकता के लिए किये गये उनके प्रयत्नों को तो सब कोई जानते हैं और सच्ची बात तो यह है कि अगर बेलगांव में, कानपुर में श्रीमती सरोजिनी नायडू और गोहाटी में श्रीयुत श्रीनिवास आयंगार मार्ग में न आते तो इनमें से किसी भी अधिवेशन के अध्यक्ष डा० अंसारी ही चुने जाते, क्योंकि जब ये चुनाव हो रहे थे तब उनका नाम प्रत्येक आदमी की जबान पर था, परंतु कुछ खास कारणों से डा० अंसारी का हक आगे बढ़ा दिया गया और अब ज्ञात होता

[1] हिंदी नवजीवन, ५-१-२८

है कि विधि ने उनके चुनाव को इसीलिए आगे ढकेल दिया है कि वे ऐसे मौके पर आवें जब देश को उनकी सबसे अधिक जरूरत हो। अगर हिंदू-मुस्लिम एकता की कोई योजना दोनों पक्षों को ग्रहण करने योग्य मालूम हो तो निःसंदेह डा० अंसारी ही उसे महासभा के द्वारा कर ले जा सकते हैं। ...अकेली यही बात (सर्व-सम्मति से और हृदय से एक मुसलमान को अपना अध्यक्ष चुनना) हिंदुओं की ओर से इस बात का साफ प्रमाण होगा कि हिंदू एकता को दिल से चाहते हैं, और राष्ट्रीय विचारोंवाले मुसलमानों में डा० अंसारी की अपेक्षा साधारणतया मुसलमान जनता में अधिक आदृत कोई नहीं है। इसलिए मेरे खयाल से तो यही अच्छा है कि अगले साल के लिए डा० अंसारी ही राष्ट्रीय महासभा के कर्णधार हों, क्योंकि केवल किसी योजना को मंजूर कर लेना ही हमारे लिए काफी नहीं है। दोनों पक्षों द्वारा उसे मंजूर कराने की बनिस्बत उसे कार्य में परिणत करना शायद कहीं अधिक जरूरी है। और यदि हम मान लें कि दोनों पक्षों का समाधान करनेवाली एक योजना मंजूर हो भी गई तो उसपर अमल करते समय बराबर सावधानी की आवश्यकता होगी। डा० अंसारी ही ऐसे काम के लिए सबसे अधिक योग्य पुरुष हैं। इसलिए मैं आशा करता हूं कि सभी प्रांत एकमत से डा० अंसारी के नाम को ही उस सर्वोच्च सम्मान के लिए सूचित करेंगे, जो कि राष्ट्रीय महासभा के आधीन है।'[1]

... ...

'हरिजन' में उन सब महान् पुरुषों की मृत्यु पर, जो इस संसार से सिधार जाते हैं, साधारणतया मैं लिखता नहीं हूं। 'हरिजन' एक विशेष प्रवृत्ति से संबंध रखनेवाला पत्र है। आम तौर पर उन्हीं व्यक्तियों के स्वर्गवास के विषय में इसमें लिखा जाता है जिनका कि हरिजन-कार्य के साथ विशेष-रूप से संबंध होता है। श्री कमला नेहरू के स्वर्गवास पर मैंने 'हरिजन' में जो

[1] हिंदी नवजीवन, २१-७-२७

नहीं लिखा उसमें मुझे खास तौर पर अपने ऊपर पाबंदी लगानी पड़ी। ऐसा करके मैंने करीब-करीब अपने साथ जुल्म किया। मगर डा० अंसारी के स्वर्गवास पर मुझे कोई ऐसा आत्म-निग्रह करने की जरूरत नहीं। कारण यह है कि वे निस्संदेह हकीम अजमल खां की तरह ही हिंदू-मुस्लिम ऐक्य के एक प्रतिरूप थे। कड़ी-से-कड़ी परीक्षा के समय भी वह अपने विश्वास से कभी डिगे नहीं। वह एक पक्के मुसलमान थे। हजरत मुहम्मदसाहब की जिन लोगों ने जरूरत के वक्त मदद की थी, वे उनके वंशज थे और उन्हें इस बात का गर्व था। इस्लाम के प्रति उनमें जो दृढ़ता थी और उसका उन्हें जो प्रगाढ़ ज्ञान था उस दृढ़ता और उस ज्ञान ने ही उन्हें हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य में विश्वास करनेवाला बना दिया था। अगर यह कहा जाय कि जितने उनके मुसलमान मित्र थे उतने ही हिंदू मित्र थे तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। सारे हिंदुस्तान के काबिल-से-काबिल डाक्टरों में उनका नाम लिया जाता था। किसी भी कौम का गरीब आदमी उनसे सलाह लेने जाय, उसके लिए बेरोक-टोक उनका दरवाजा खुला रहता था। उन्होंने राजा-महाराजाओं और अमीर घरानों से जो कमाया वह अपने जरूरतमंद दोस्तों में दोनों हाथों से खर्च किया। कोई उनसे कुछ मांगने गया तो कभी ऐसा नहीं हुआ कि वह उनकी जेब खाली किये बगैर लौटा हो, और उन्होंने जो दिया उसका कभी हिसाब नहीं रखा। सैकड़ों पुरुषों और स्त्रियों के लिए वह एक भारी सहारा थे। मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि सचमुच वह अनेक लोगों को रोते-बिलखते छोड़ गये हैं। उनकी पत्नी बेगमसाहिबा तो ज्ञानपरायणा हैं, यद्यपि वह हमेशा बीमार-सी रहती हैं। वह इतनी बहादुर हैं और इस्लाम पर उनकी इतनी ऊंची श्रद्धा है कि उन्होंने अपने प्रिय पति की मृत्यु पर एक आंसू भी नहीं गिराया। पर जिन अनेक व्यक्तियों की मैं याद करता हूं वे ज्ञानी या फिलासफर नहीं हैं। ईश्वर में तो उनका विश्वास हवाई है, पर डा० अंसारी में उनका विश्वास जीवित विश्वास था। इसमें उनका कोई कसूर नहीं। डाक्टर-

साहब की मित्रता के उनके पास ऐसे अनेक प्रमाण थे कि ईश्वर ने जब उन्हें छोड़ दिया तब डाक्टरसाहब भी उनकी मदद तभी तक कर सके, जबतक कि सिरजनहार ने उन्हें ऐसा करने दिया। जिस काम को वह जीवित अवस्था में पूरा नहीं कर सके, ईश्वर करे, वह उनकी मृत्यु के बाद पूरा हो जाय।[1]

: ३ :

बी अम्मा

यह मानना मुश्किल है कि बी अम्मा का देहांत हो गया है। बी अम्मा की उस राजसी मूर्त्ति को या सार्वजनिक सभाओं में उनकी बुलंद आवाज को कौन नहीं जानता। बुढ़ापा होते हुए भी उनमें एक नवयुवक की शक्ति थी। खिलाफत और स्वराज्य के लिए उन्होंने अथक यात्राएं कीं। इस्लाम की कट्टर अनुयायिनी होते हुए भी उन्होंने देख लिया था कि इस्लाम का कार्य, जहांतक मनुष्य के बस की बात है, भारत की आजादी पर आधारित है। इसी निश्चय के साथ उन्होंने यह भी महसूस कर लिया था कि हिंदुस्तान की आजादी हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य और खादी के बिना असंभव है। इसलिए वह अविराम एकता का प्रचार करती थीं। यह उनके लिए एक अटल सिद्धांत हो गया था। उन्होंने अपने तमाम विदेशी और मिल के कपड़ों का परित्याग कर दिया था और खादी इस्तेमाल करती थीं। मौलाना मुहम्मदअली मुझसे कहते हैं कि बी अम्मा ने उन्हें यह हुक्म दे रखा था कि मेरे जनाजे पर सिवा खादी के और कुछ न होना चाहिए जब-जब मुझे उनके बिछौने के नजदीक जाने का सौभाग्य प्राप्त होता तब-तब वह स्वराज्य और एकता की बातें पूछतीं। उनके बाद ही प्रायः वह खुदाताला से दुआ करतीं—"या खुदा, हिंदुओं और मुसलमानों

---

[1] हरिजन सेवक, १६-५-३६

को ऐसी अक्ल बख्शे कि जिससे ये एकता की जरूरत को समझें और रहम करके स्वराज्य देखने के लिए मुझे जिंदा रहने दें।"

इस बहादुर और भद्र आत्मा की यादगार को बनाये रखने की सबसे अच्छी रीति यही है कि हम सर्व-सामान्य कार्यों के प्रति उनके उत्साह और उमंग का अनुकरण करें। हिंदूधर्म भी बिना स्वराज्य के उतना ही संकट में है जितना कि इस्लाम। परमात्मा करे कि हिंदुओं और मुसलमानों को इस प्रारंभिक बात की कदर करने की बी अम्मा-जैसी बुद्धि दें। परमात्मा उनकी आत्मा को शांति और अली भाइयों को उनके सौंपे कार्य को जारी रखने की शक्ति दे।

बी अम्मा की मृत्यु की रात के उस गंभीर और प्रभावकारी दृश्य का वर्णन किये बिना मैं नहीं रह सकता। उस समय मुझे उनके पास ही रहने का सद्भाग्य प्राप्त हुआ था। यह सुनते ही कि अब वह अपने जीवन की अंतिम सांसें ले रही हैं मैं और सरोजिनीदेवी वहां दौड़े गये। उनके कुटुंब के कितने ही लोग आस-पास जमा थे। उनके डाक्टर और हितचिंतक डा० अंसारी भी मौजूद थे। वहां रोने की आवाज नहीं सुनाई देती थी, अलबत्ते मौ० मुहम्मदअली के गालों पर से आंसू जरूर टपक रहे थे। बड़े भाई ने बड़ी कठिनाई से अपने शोकावेग को रोक रखा था। हां, उनके चेहरे पर एक असाधारण गंभीरता अलबत्ते थी। सब लोग अल्ला का नामोच्चार कर रहे थे। एक सज्जन अंत समय की प्रार्थना गा रहे थे। 'कामरेड प्रेस' बी अम्मा के कमरे के इतना पास है कि आवाज सुनाई दे सकती है। परंतु एक मिनिट के लिए वहां के काम में गड़बड़ नहीं हुई और न मौलाना ने ही अपने संपादकीय कर्तव्यों में रुकावट आने दी। और सार्वजनिक काम तो कोई भी मुल्तवी नहीं किया गया। मौलाना शौकतअली ने तो सपने तक में न सोचा था कि मैं अपना रामजस कालेज जाना मुल्तवी करूंगा। वह एक सच्चे सिपाही की तरह मुजफ्फरनगर के हिंदुओं को दिये गये निश्चित समय पर उनसे मिले, हालांकि

बी अम्मा की मृत्यु के बाद उन्हें तुरंत ही वहां से चला जाना पड़ा था। यह सब जैसाकि होना चाहिए था, वैसा ही हुआ। जन्म और मरण ये दो भिन्न-भिन्न दशाएं नहीं हैं, बल्कि एक ही दशा के दो भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। न मृत्यु से दुखी होने की जरूरत है, न जन्म से खुशी मनाने की।[1]

: ४ :

धर्मानंद कौसंबी

शायद आपने उनका नाम नहीं सुना होगा। इसलिए शायद आप दुःख मानना नहीं चाहेंगे। वैसे किसी मृत्यु पर हमें दुःख मानना चाहिए भी नहीं, लेकिन इंसान का स्वभाव है कि वह अपने स्नेही या पूज्य के मरने पर दुःख मानता ही है। हम लोग ऐसे बने हैं कि जो अपने काम की डुग्गी पिटवाता फिरता है और राज्य-कारण में उछालें भरता है, उसको तो हम आसमान पर चढ़ा देते हैं, लेकिन मूक काम करनेवालों को नहीं पूछते।

कौसंबीजी ऐसे ही एक मूक कार्यकर्त्ता थे। उनका जन्म गोवा में हुआ था। जन्म से वह हिंदू थे, पर उनको ऐसा विश्वास बैठ मया था कि बौद्ध धर्म में अहिंसा, शील आदि जितने बढ़े-चढ़े हैं, उतने दूसरे धर्म में, वेद-धर्म में भी, नहीं हैं। इसलिए उन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार किया और बौद्ध शास्त्रों के अध्ययन में लग गये और उसमें इतने बड़े विद्वान हो गये कि शायद ही हिंदुस्तान में उनकी बराबरी का और कोई हो। उन्होंन गुजरात विद्यापीठ व काशी विद्यापीठ में पाली भाषा पढ़ाई और अपनी अगाध विद्वत्ता का ज्ञान-दान किया था।

उन्होंने मेरे पास १०००) भेज दिये, जो किसीने उनको दिये थे। उन्होंने मुझको लिखा था कि किसी-

---

[1] हिंदी नवजीवन, २३-११-२४

को पाली पढ़ने के लिए लंका भेज देना। लेकिन मैंने उनसे पूछा कि क्या लंका जाकर पढ़ने से किसीको बौद्ध धर्म प्राप्त हो जायगा? मैंने तो दुनिया में बौद्धों से कहा है कि आपको अगर बौद्ध धर्म जानना है तो आप उसके जन्म-स्थान भारत में ही उसे पायेंगे। जहांपर वेद-धर्म से वह निकला है, वहीं आपको उसे खोजना है और शंकराचार्य-जैसे अद्वितीय विद्वान्, जो प्रच्छन्न बुद्ध कहलाये, उनके ग्रंथों को भी आप समझेंगे तब बौद्ध धर्म का गूढ़ रहस्य आप जान पायेंगे।

लेकिन कौसंबीजी की विद्वत्ता से मैं अपनी तुलना नहीं कर सकता। मैं तो इंग्लैंड में भोज खाकर बना हुआ बैरिस्टर हूं। मेरे पास संस्कृत का ज्ञान जरा-सा है। अगर आज मैं महात्मा बना हूं तो इसलिए नहीं कि अंग्रेजी का बैरिस्टर हूं, पर इसलिए कि मैंने सेवा की है और वह सेवा, सत्य और अहिंसा के द्वारा की है। इस सत्य और अहिंसा की पूजा में जो थोड़ी-सी सफलता मुझे मिलती चली गई उसीके कारण आज मेरी थोड़ी-बहुत पूछ है।

कौसंबीजी की समझ में यह ममा गया कि अब यह शरीर अधिक काम करने के योग्य नहीं रहा है तो उन्होंने अनशन करके प्राण-त्याग करने की ठानी। टंडनजी के कहने पर मैंने उनका अनशन उनकी (कौसंबीजी की) अनिच्छा से छुड़वाया, पर उनका हाजमा बहुत खराब हो चुका था और कुछ भी खुराक ले ही नहीं सकते थे। तब दुबारा सेवाग्राम में चालीस दिन तक केवल जल पर ही रहकर उन्होंने शरीरांत किया। बीमारी में नाममात्र की सेवा और औषधि भी नहीं ली। जन्म-स्थान गोवा में जाने का मोह भी उन्होंने तजा और अपने पुत्र आदि को अपने पास न आने की आज्ञा दी। मृत्यु के बाद के लिए कह गये, मेरा कोई स्मारक न बनाया जाय। शरीर को जलाने या दफनाने में जो सस्ता पड़े वह किया जाय और इस तरह उन्होंने बुद्ध का नाम रटते-रटते अंतिम गहरी निद्रा ली, जो हरेक जन्मनेवाले को कभी-न-कभी लेनी ही है। मृत्यु हरेक का

परम मित्र है, वह अपने कर्म के अनुसार आवेगा ही। भले ही कोई यह बता दे कि अमुक का जन्म अमुक समय होगा, पर मौत कब आवेगी, यह कोई भी आज तक नहीं बता पाया है।[१]

प्रोफेसर कौसंबीजी जो बड़े विद्वान थे और पाली भाषा में अग्रगण्य माने जाते थे, वह सेवाग्राम-आश्रम में चल बसे। उनके बारे में वहां के संचालक बलवंतसिंह का पत्र है, जिसमें कहा गया है कि ऐसी मृत्यु आज तक मैंने नहीं देखी। यह तो बिल्कुल ऐसी हुई जैसी कबीरजी ने बताई है —

> दास कबीर जतन सों ओढ़ी।
> ज्यों-की-त्यों धर दीनी चदरिया॥

इस तरह हम सभी लोग मृत्यु की मैत्री साध लें तो हिन्दुस्तान का भला ही होने वाला है।[२]

: ५ :

कस्तूरबा गांधी

तेरह वर्ष की उम्र में मेरा विवाह हो गया।....दो मासूम बच्चे अनजाने संसार-सागर में कूद पड़े। हम दोनों एक-दूसरे से डरते थे, ऐसा खयाल आता है। एक-दूसरे से शरमाते तो थे ही। धीरे-धीरे हम एक-दूसरे को पहचानने लगे। बोलने लगे। हम दोनों हम-उम्र थे, पर मैंने पति का अधिकार जताना शुरू कर दिया।...

कस्तूरबाई निरक्षर थीं। स्वभाव उनका सरल और स्वतंत्र था। वह परिश्रमी भी थीं; पर मेरे साथ कम बोला करतीं। अपने अज्ञान पर उन्हें असंतोष न था। अपने बचपन में मैंने कभी उनकी ऐसी इच्छा नहीं देखी कि 'वह पढ़ते हैं तो मैं भी पढ़ूं।' उन्हें

---

[१] प्रार्थना-प्रवचन, ५-६-४७

[२] प्रार्थना-प्रवचन, ८-६-४७

पढ़ाने की मुझे बड़ी चाह थी। ... पढ़ाने की जितनी कोशिशें कीं वे सब प्रायः बेकार गईं। शिक्षक रखकर पढ़ाने के मेरे यत्न भी विफल हुए। इसके फलस्वरूप कस्तूरबाई मामूली चिट्ठी-पत्री व गुजराती लिखने-पढ़ने से अधिक साक्षर न हो पाईं।

... ...

दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह की लड़ाई के काम से मुक्त होने के बाद मैंने सोचा कि अब मेरा काम दक्षिण अफ्रीका में नहीं, बल्कि देश में है। दक्षिण अफ्रीका में बैठे-बैठे मैं कुछ-न-कुछ सेवा तो जरूर कर पाता था, परंतु मैंने देखा कि यहां कहीं मेरा मुख्य काम धन कमाना ही न हो जाय।

देश से मित्र लोग भी देश लौट आने को आकर्षित कर रहे थे। मुझे भी जंचा कि देश जाने से मेरा अधिक उपयोग हो सकेगा।

मैंने साथियों से छुट्टी देने का अनुरोध किया। बड़ी मुश्किल से उन्होंने एक शर्त पर छुट्टी स्वीकार की। वह यह कि एक साल के अंदर लोगों को मेरी जरूरत मालूम हो तो मैं फिर दक्षिण अफ्रीका आ जाऊंगा। मुझे यह शर्त कठिन मालूम हुई, परंतु मैं तो प्रेम-पाश में बंधा हुआ था। मित्रों की बात को टाल नहीं सकता था। मैंने वचन दिया। इजाजत मिली।

इस समय मेरा निकट-संबंध प्रायः नेटाल के ही साथ था। नेटाल के हिंदुस्तानियों ने मुझे प्रेमामृत से नहला डाला। स्थान-स्थान पर अभिनंदन-पत्र दिये गये और हरेक जगह से कीमती चीजें नजर की गईं।

१८९६ में जब मैं देश आया था तब भी भेंटें मिली थीं; पर इस बार की भेंटों और सभाओं के दृश्यों से मैं घबराया। भेंट में सोने-चांदी की चीजें तो थीं ही; पर हीरे की चीजें भी थीं।

इनसब चीजों को स्वीकार करने का मुझे क्या अधिकार हो सकता है? यदि मैं इन्हें मंजूर कर लूं तो फिर अपने मन को यह कहकर कैसे मना सकता हूं कि मैं पैसा लेकर लोगों की सेवा नहीं करता था? मेरे मवक्किलों की कुछ रकमों को छोड़कर बाकी

सब चीजें मेरी लोक-सेवा के ही उपलक्ष में दी गई थीं। पर मेरे मन में तो मवक्किल और दूसरे साथियों में कुछ भेद न था। मुख्य-मुख्य मवक्किल सब सार्वजनिक काम में भी सहायता देते थे।

फिर उन भेंटों में एक पचास गिनी का हार कस्तूरबाई के लिए था। मगर उसे जो चीज मिली वह भी थी तो मेरी ही सेवा के उपलक्ष में। अतएव उसे पृथक नहीं मान सकते थे।

जिस शाम को इनमें से मुख्य-मुख्य भेंटें मिलीं, वह रात मैंने एक पागल की तरह जागकर काटी। कमरे में यहां-से-वहां टहलता रहा; परंतु गुत्थी किसी तरह सुलझती न थी। सकड़ों रुपयों की भेंटें न लेना भारी पड़ रहा था; पर ले लेना उससे भी भारी मालूम होता था।

मैं चाहे इन भेंटों को पचा भी सकता, पर मेरे बालक और पत्नी ? उन्हें तालीम तो सेवा की मिल रही थी। सेवा का दाम नहीं लिया जा सकता था, यह हमेशा समझाया जाता था। घर में कीमती जेवर आदि मैं नहीं रखता था। सादगी बढ़ती जाती थी। ऐसी अवस्था में सोने की घड़ियां कौन रखेगा ? सोने की कंठी और हीरे की अंगूठियां कौन पहनेगा ? गहनों का मोह छोड़ने के लिए मैं उस समय भी औरों से कहता रहता था। अब इन गहनों और जवाहरात को लेकर मैं क्या करूंगा ?

मैं इस निर्णय पर पहुंचा कि वे चीजें मैं हरगिज नहीं रख सकता। पारसी रुस्तमजी इत्यादि को इन गहनों का ट्रस्टी बनाकर उनके नाम एक चिट्ठी तैयार की और सुबह स्त्री-पुत्रादि से सलाह करके अपना बोझ हलका करने का निश्चय किया।

मैं जानता था कि धर्मपत्नी को समझाना मुश्किल पड़ेगा। मुझे विश्वास था कि बालकों को समझाने में जरा भी दिक्कत पेश न आवेगी। अतः उन्हें वकील बनाने का विचार किया।

बच्चे तो तुरंत समझ गये। वे बोले, "हमें इन गहनों से कुछ मतलब नहीं। ये सब चीजें हमें लौटा देनी चाहिए और यदि जरूरत होगी तो क्या हम खुद नहीं बना सकेंगे ?"

मैं प्रसन्न हुआ। "तो तुम बा को समझाओगे न ?" मैंने पूछा।

"जरूर-जरूर। वह कहां इन गहनों को पहनने चली हैं ! वह रखना चाहेंगी भी तो हमारे ही लिए न ? पर जब हमें ही इनकी जरूरत नहीं है तब फिर वह क्यों जिद करने लगीं ?"

परंतु काम अंदाज से ज्यादा मुश्किल साबित हुआ।

"तुम्हें चाहे जरूरत न हो और लड़कों को भी न हो। बच्चों का क्या ? जैसा समझा दें, समझ जाते हैं। मुझे न पहनने दो; पर मेरी बहुओं को तो जरूरत होगी। और कौन कह सकता है कि कल क्या होगा ? जो चीजें लोगों ने इतने प्रेम से दी हैं उन्हें वापस लौटाना ठीक नहीं।" इस प्रकार वाग्धारा शुरू हुई और उसके साथ अश्रु-धारा आ मिली। लड़के दृढ़ रहे और मैं भला क्यों डिगने लगा ?

मैंने धीरे से-कहा, "पहले लड़कों की शादी तो हो लेने दो। हम बचपन में तो इनके विवाह करना चाहते ही नहीं हैं। बड़े होने पर जो इनका जी चाहे सो करें। फिर हमें क्या गहनों-कपड़ों की शौकीन बहुएं खोजनी हैं ? फिर भी अगर कुछ बनवाना ही होगा तो मैं कहां चला गया हूं ?"

"हां, जानती हूं तुमको। वही न हो, जिन्होंने मेरे भी गहने उतरवा लिये हैं ! जब मुझे ही नहीं पहनने देते हो तो मेरी बहुओं को जरूर ला दोगे ! लड़कों को तो अभी से वैरागी बना रहे हो ! इन गहनों को मैं वापस नहीं देने दूंगी और फिर मेरे हार पर तुम्हारा क्या हक है ?"

"पर यह हार तुम्हारी सेवा की खातिर मिला है या मेरी ?" मैंने पूछा।

"जैसा भी हो, तुम्हारी सेवा में क्या मेरी सेवा नहीं है ? मुझ-से जो रात-दिन मजूरी कराते हो, क्या वह सेवा नहीं है ? मुझे रुला-रुलाकर जो ऐरे-गैरों को घर में रखा और मुझसे सेवा-टहल कराई, वह कुछ भी नहीं ?"

ये सब बाण तीखे थे। कितने ही तो मुझे चुभ रहे थे। पर गहने

वापस लौटाने का मैं निश्चय कर चुका था। अंत में बहुतेरी बातों में मैं जैसे-तैसे सम्मति प्राप्त कर सका। . . .

जिस समय डरबन में मैं वकालत करता था, उस समय बहुत बार मेरे कारकुन मेरे साथ ही रहते थे। वे हिंदू और ईसाई होते थे, अथवा प्रांतों के हिसाब से कहें तो गुजराती और मद्रासी। मुझे याद नहीं आता कि कभी उनके विषय में मेरे मन में भेद-भाव पैदा हुआ हो। मैं उन्हें बिल्कुल घर के ही जैसा समझता और उसमें मेरी धर्मपत्नी की ओर से यदि कोई विघ्न उपस्थित होता तो मैं उससे लड़ता था। मेरा एक कारकुन ईसाई था। उसके मां-बाप पंचम जाति के थे। हमारे घर की बनावट पश्चिमी ढंग की थी। इस कारण कमरे में मोरी नहीं होती थी—और न होनी चाहिए थी, ऐसा मेरा मत है। इस कारण कमरों में मोरियों की जगह पेशाब के लिए एक अलग बर्तन होता था। उसे उठाकर रखने का काम हम दोनों—दंपती का था, नौकरों का नहीं। हां, जो कारकुन लोग अपने को हमारा कुटंबी-सा मानने लगते थे वे तो खुद ही उसे साफ कर डालते थे, लेकिन पंचम जाति में जन्मा यह कारकुन नया था। उसका बर्तन हमें ही उठाकर साफ करना चाहिए था। दूसरे बर्तन तो कस्तूरबाई उठाकर साफ कर देतीं, लेकिन इन भाई का बर्तन उठाना उसे असह्य मालूम हुआ। इससे हम दोनों में झगड़ा मचा। यदि मैं उठाता हूं तो उसे अच्छा नहीं मालूम होता था और खुद उसके लिए उठाना कठिन था। फिर भी आंखों से मोती की बूंदें टपक रही हैं, एक हाथ में बर्तन लिये अपनी लाल-लाल आंखों से उलहना देती हुई कस्तूरबाई सीढ़ियों से उतर रही हैं, वह चित्र मैं आज भी ज्यों-का-त्यों खींच सकता हूं।

परंतु मैं जैसा सहृदय और प्रेमी पति था वैसा ही निष्ठुर और कठोर भी था। मैं अपनेको उसका शिक्षक मानता था। इस-से अपने अंधप्रेम के अधीन हो मैं उसे खूब सताता था। इस कारण महज उसके बर्तन उठा ले जाने-भर से मुझे संतोष न हुआ। मैंने यह भी चाहा कि वह हँसते और हरखते हुए उसे ले जाय। इसलिए

मैंने उसे डांटा-डपटा भी। मैंने उत्तेजित होकर कहा—"देखो, यह बखेड़ा मेरे घर में नहीं चल सकेगा।"

मेरा यह बोल कस्तूरबाई को तीर की तरह लगा। उसने धधकते दिल से कहा, "तो लो, रखो यह अपना घर! मैं चली!"

उस समय मैं ईश्वर को भूल गया था। दया का लेशमात्र मेरे हृदय में न रह गया था। मैंने उसका हाथ पकड़ा। सीढ़ी के सामने ही बाहर जाने का दरवाजा था। मैं उस दीन अबला का हाथ पकड़ कर दरवाजे तक खींचकर ले गया। दरवाजा आधा खोला होगा कि आंखों में गंगा-जमुना बहाती हुई कस्तूरबाई बोलीं, "तुम्हें तो कुछ शरम है नहीं, पर मुझे है। जरा तो लजाओ। मैं बाहर निकलकर आखिर जाऊं कहां? मां-बाप भी यहां नहीं कि उनके पास चली जाऊं। मैं ठहरी स्त्री-जाति! इसलिए मुझे तुम्हारी धौंस सहनी ही पड़ेगी। अब जरा शरम करो और दरवाजा बंद कर लो। कोई देख लेगा तो दोनों की फजीहत होगी।"

मैंने अपना चेहरा तो सुर्ख बनाये रखा; पर मन में शरमा जरूर गया। दरवाजा बंद कर दिया। जबकि पत्नी मुझे छोड़ नहीं सकती थी तब मैं भी उसे छोड़कर कहां जा सकता था? इस तरह हमारे आपस में लड़ाई-झगड़े कई बार हुए हैं; परंतु उनका परिणाम सदा अच्छा ही निकला है। उनमें पत्नी ने अपनी अद्भुत सहनशीलता के द्वारा मुझपर विजय प्राप्त की।

यह घटना १८९८ की है। उस समय मुझे ब्रह्मचर्य-पालन के विषय में कुछ ज्ञान न था। वह समय ऐसा था जबकि मुझे इस बात का स्पष्ट ज्ञान न था कि पत्नी तो केवल सहधर्मिणी, सहचारिणी और सुख-दुःख की साथिन है। मैं यह समझकर बर्ताव करता था कि पत्नी विषय-भोग की भाजन है, उसका जन्म पति की हर तरह की आज्ञाओं का पालन करने के लिए हुआ है।...

किंतु १९०० ई० से मेरे इन विचारों में गहरा परिवर्तन

हुआ। १९०६ में उसका परिणाम प्रकट हुआ; परंतु इसका वर्णन आगे प्रसंग आने पर होगा। यहां तो सिर्फ इतना बताना काफी है कि ज्यों-ज्यों मैं निर्विकार होता गया त्यों-त्यों मेरा घर-संसार शांत, निर्मल और सुखी होता गया।[1]

... ...

बा का जबरदस्त गुण महज अपनी इच्छा से मुझमें समा जाने का था। यह कुछ मेरे आग्रह से नहीं हुआ था। लेकिन समय पाकर बा के अंदर ही इस गुण का विकास हो गया था। मैं नहीं जानता था कि बा में यह गुण छिपा हुआ था। मेरे शुरू-शुरू के अनुभव के अनुसार बा बहुत हठीली थीं। मेरे दबाव डालने पर भी वह अपना चाहा ही करतीं। इसके कारण हमारे बीच थोड़े समय की या लंबी कड़ुवाहट भी रहती, लेकिन जैसे-जैसे मेरा सार्वजनिक जीवन उज्ज्वल बनता गया, वैसे-वैसे बा खिलती गईं और पुख्ता विचारों के साथ मुझमें यानी मेरे काम में समाती गईं। जैसे दिन बीतते गये, मुझमें और मेरे काम में—सेवा में—भेद न रह गया। बा धीमे-धीमे उसमें तदाकार होने लगीं। शायद हिंदुस्तान की भूमि को यह गुण अधिक-से-अधिक प्रिय है। कुछ भी हो, मुझे तो बा की उक्त भावना का यह मुख्य कारण मालूम होता है।

बा में यह गुण पराकाष्ठा को पहुंचा, इसका कारण हमारा ब्रह्मचर्य था। मेरी अपेक्षा बा के लिए वह बहुत ज्यादा स्वाभाविक सिद्ध हुआ। शुरू में बा को इसका कोई ज्ञान भी न था। मैंने विचार किया और बा ने उसको उठाकर अपना बना लिया। परिणाम-स्वरूप हमारा संबंध सच्चे मित्र का बना। मेरे साथ रहने में बा के लिए सन् १९०६ से, असल में सन् १९०१ से, मेरे काम में शरीक हो जाने के सिवा या उससे भिन्न और कुछ रह ही नहीं गया था। वह अलग रह नहीं सकती थीं। अलग रहने में उन्हें कोई दिक्कत न होती, लेकिन उन्होंने मित्र बनने पर भी स्त्री के नाते और पत्नी के नाते मेरे काम में समा जाने में ही अपना धर्म माना। इसमें बा ने

[1] आत्मकथा, १९२७

मेरी निजी सेवा को अनिवार्य स्थान दिया। इसलिए मरते दम तक उन्होंने मेरी सुविधा की देखरेख का काम छोड़ा ही नहीं।

अगर मैं अपनी पत्नी के बारे में अपने प्रेम और अपनी भावना का वर्णन कर सकूं तो हिंदूधर्म के बारे में अपने प्रेम और अपनी भावनाओं को मैं प्रकट कर सकता हूं। दुनिया की दूसरी किसी भी स्त्री के मुकाबिले में मेरी पत्नी मुझपर ज्यादा असर डालती है। ...

यद्यपि अपनी मृत्यु के कारण वह सतत वेदना से छूट गई हैं, इसलिए उनकी दृष्टि से मैंने उनकी मौत का स्वागत किया है, तो भी इस क्षति से मुझको जितना दुःख होने की कल्पना मैंने की थी उससे अधिक दुःख हुआ है। हम असाधारण दंपती थे। १९०६ में एक दूसरे की स्वीकृति से और अनजानी आजमाइश के बाद हमने आत्म-संयम के नियम को निश्चित रूप से स्वीकार किया था। इसके परिणामस्वरूप हमारी गांठ पहले से कहीं ज्यादा मजबूत बनी और मुझे उससे बहुत आनंद हुआ। हम दो भिन्न व्यक्ति नहीं रह गये। मेरी वैसी कोई अच्छा नहीं थी, तो भी उन्होंने मुझमें लीन होना पसंद किया। फलतः वह सचमुच ही मेरी अर्धांगिनी बनीं। वह हमेशा से बहुत दृढ़ इच्छा-शक्तिवाली स्त्री थीं, जिनको अपनी नवविवाहित दशा में मैं भूल से हठीली माना करता था; लेकिन अपनी दृढ़ इच्छा-शक्ति के कारण वह अनजाने ही अहिंसक असयोग की कला के आचरण में मेरी गुरु बन गईं। आचरण का आरंभ मेरे अपने परिवार से ही किया। १९०६ में जब मैंने उसे राजनीति के क्षेत्र में दाखिल किया तब उसका अधिक विशाल और विशेष रूप से योजित 'सत्याग्रह' नाम पड़ा। दक्षिण अफ्रीका में जब हिंदुस्तानियों की जेल-यात्रा शुरू हुई तब बा भी सत्याग्रहियों में एक थीं। मेरे मुकाबिले शारीरिक पीड़ा उनको ज्यादा हुई। वह कई बार जेल जा चुकी थीं, फिर भी इस बार के इस कैदखाने में, जिसमें सभी तरह की सहूलियतें मौजूद थीं, उनको अच्छा नहीं लगा। दूसरे बहुतों के साथ मेरी और फिर तुरंत ही उनकी जो गिरफ्तारी हुई, उससे उन्हें जोर का आघात पहुंचा और उनका

मन खट्टा हो गया। वह मेरी गिरफ्तारी के लिए बिल्कुल तैयार नहीं थीं। मैंने उन्हें विश्वास दिलाया था कि सरकार को मेरी अहिंसा पर भरोसा है और जबतक मैं खुद गिरफ्तार होना न चाहूं वह मुझे पकड़ेगी नहीं। सचमुच उनके ज्ञानतंतुओं को इतने जोर का धक्का बैठा कि उनकी गिरफ्तारी के बाद उन्हें दस्त की सख्त शिकायत हो गई। अगर उस समय डा० सुशीला नैयर ने, जो उनके साथ ही पकड़ी गई थीं, उनका इलाज न किया होता तो मुझसे इस जेल में आकर मिलने से पहले ही उनकी देह छूट चुकी होती। मेरी हाजिरी से उन्हें आश्वासन मिला और बिना किसी खास इलाज के दस्त की शिकायत दूर हो गई। लेकिन मन जो खट्टा हुआ था, सो खट्टा ही बना रहा। इसकी वजह से उनके स्वभाव में चिड़चिड़ापन आ गया और इसीका नतीजा था कि आखिर कष्ट सहते-सहत क्रम-क्रम से उनका देहपात हुआ।[1]

... ...

उनमें एक गुण बहुत बड़ा था। हर एक हिंदू-पत्नी में वह कमोबेश होता ही है। इच्छा से या अनिच्छा से अथवा जाने-अनजाने भी वह मेरे पदचिह्नों पर चलने में धन्यता अनुभव करती थीं। .....

अगरचे मैं चाहता था कि उस तीव्र वेदना से उन्हें छुटकारा मिले और जल्दी ही उनकी देह का अंत हो जाय तो भी आज उनकी कमी को जितना मैंने माना था, उससे कहीं अधिक मैं महसूस कर रहा हूं। हम असाधारण दंपती थे—अनोखे। हमारा जीवन संतोषी, सुखी और सदा ऊर्ध्वगामी था।[1]

: ६ :

मगनलाल खुशालचंद गांधी

मेरे चाचा के पोते मगनलाल खुशालचंद गांधी मेरे कामों

[1] 'हमारी बा', पृ० २२ [2] 'हमारी बा', १८-२-४५

में मेरे साथ सन् १९०४ से ही थे। मगनलाल के पिता ने अपने सभी पुत्रों को देश के काम में दे दिया है। वह इस महीने के शुरू में सेठ जमनालालजी तथा दूसरे मित्रों के साथ बंगाल गये थे, वहां से बिहार आये। वहीं पर अपने कर्त्तव्य के पालन में ही उन्हें कठिन ज्वर हो आया। नौ दिन की बीमारी के बाद प्रेम और डाक्टरी ज्ञान से जितनी सेवा संभव है, सभी कुछ होने पर भी वह बृज-किशोर प्रसादजी की गोद में से चले गये।

कुछ धन कमा सकने की आशा से मगनलाल गांधी मेरे साथ सन् १९०३ में दक्षिण अफ्रीका गये थे। मगर उन्हें दूकान करते पूरा साल भर भी न हुआ होगा कि स्वेच्छापूर्वक गरीबी की मेरी अचानक पुकार को सुनकर वह फिनिक्स-आश्रम में आ शामिल हुए और तब से एक बार भी वह डिगे नहीं, मेरी आशाएं पूरी करने में असमर्थ न हुए। यदि उन्होंने स्वदेश-सेवा में अपनेको होम दिया तो अपनी योग्यताओं और अपने अध्यवसाय के बल पर, जिनके बारे में कोई संदेह हो ही नहीं सकता, वे आज व्यापारियों के सिरताज होते। छापाखाने में डाल दिये जाने पर उन्होंने तुरंत ही मुद्रण-कला के सभी भेदों को जान लिया। यद्यपि पहले उन्होंने कभी कोई यंत्र हाथ में नहीं लिया था तो भी इंजिन-घर में, कलों के बीच तथा कंपोज़ीटरों के टेबल पर सभी जगह अत्यंत कुशलता दिखाई। 'इंडियन ओपीनियन' के गुजराती अंश का संपादन करना भी उनके लिए वैसा ही सहज काम था। फिनिक्स-आश्रम में खेती का काम भी शामिल था और इसलिए वह कुशल किसान भी बन गये। मेरा खयाल है कि आश्रम में वे सर्वो-त्तम बागबान थे। यह भी उल्लेखनीय है कि अहमदाबाद से 'यंग इंडिया' का जो पहला अंक निकला उसमें भी उस संकट-काल में उनके हाथ की कारीगरी थी।

पहले उनका शरीर भीम जैसा था; किंतु जिस काम में उन्होंने अपने को उत्सर्ग किया, उसकी उन्नति में उस शरीर को गला दिया था। उन्होंने बड़ी सावधानी से मेरे आध्यात्मिक जीवन का अध्ययन

किया था। जबकि मैंने विवाहित स्त्री-पुरुषों के लिए भी 'ब्रह्मचर्य ही जीवन का नियम है' का सिद्धांत अपने सहकारियों के सामने पेश किया था तब उन्होंने पहले-पहल उसका सौंदर्य तथा उसके पालन की आवश्यकता समझी और यद्यपि उसके लिए, जैसाकि मैं जानता हूं, उन्हें बड़ा कठोर प्रयत्न करना पड़ा था तो भी उन्होंने इसे सफल कर दिखलाया। इसमें वह अपने साथ अपनी धर्मपत्नी को भी धीरतापूर्वक समझा-बुझाकर ले गये, उसपर अपने विचार जबरन डालकर नहीं।

जब सत्याग्रह का जन्म हुआ तब वह सबसे आगे थे। दक्षिण अफ्रीका के युद्ध का पूरा-पूरा मतलब समझानेवाला एक शब्द मैं ढूंढ़ रहा था। दूसरा कोई अच्छा शब्द न मिल सकने से मैंने लाचार उसे निष्क्रिय प्रतिरोध का नाम दिया था, गोकि यह शब्द बहुत ही नाकाफी और भ्रमोत्पादक भी है। क्या ही अच्छा होता अगर आज मेरे पास उनका वह अत्यंत सुंदर पत्र होता जिसमें उन्होंने बतलाया था कि इस युद्ध को 'सदाग्रह' क्यों कहना चाहिए। इसी सदाग्रह को बदलकर मैंने 'सत्याग्रह' शब्द बनाया। उनका पत्र पढ़ने पर इस युद्ध के सभी सिद्धांतों पर एक-एक करके विचार करते हुए अंत में पाठक को इसी नाम पर आना ही पड़ता था। मुझे याद है कि वह पत्र अत्यंत ही छोटा और केवल आवश्यक विषय पर ही था, जैसे कि उनके सभी पत्र होते थे।

युद्ध के समय वह काम से कभी थके नहीं, किसी काम से देह नहीं चुराई और अपनी वीरता से वह अपने आसपास में सभी किसीके दिल उत्साह और आशा से भर देते थे। जबकि सब कोई जेल गये, जब फिनिक्स में जेल जाना ही मानों इनाम जीतना था तब भी, मेरी आज्ञा से, जेल से भारी काम उठाने के लिए वह पीछे ठहर गये। उन्होंने स्त्रियों के दल में अपनी पत्नी को भेजा।

हिंदुस्तान लौटने पर भी उन्हींकी बदौलत आश्रम, जिस संयम-नियम की बुनियाद पर बना है, खुल सका था। यहां उन्हें नया और अधिक मुश्किल काम करना पड़ा। मगर उन्होंने अपने-

को उसके लायक साबित किया। उनके लिए अस्पृश्यता बहुत कठिन परीक्षा थी। सिर्फ एक क्षण के लिए ऐसा जान पड़ा, मानों उनका दिल डोल गया हो। मगर यह तो एक सैकंड की बात थी। उन्होंने देख लिया कि प्रेम की सीमा नहीं बांधी जा सकती, और कुछ नहीं तो महज इसीलिए कि अछूतों के लिए ऊंची जातिवाले जिम्मेदार हैं, हमें उन्हींके जैसे रहना चाहिए।

आश्रम का औद्योगिक विभाग फिनिक्स के ही कारखाने के ढंग का नहीं था। यहां हमें बुनना, कातना, धुनना और ओटना सीखना था। फिर मगनलाल की ओर झुका। गोकि कल्पना मेरी थी, किंतु उसे काम में लानेवाले हाथ तो उनके थे। उन्होंने बुनना और कपास के खादी बनने तक की और दूसरी सभी क्रियाएं सीखीं। वह तो जन्म से ही विश्वकर्मा, कुशल कारीगर थे।

जब आश्रम में गोशाला का काम शुरू हुआ तब वह इस काम में उत्साह से लग गये, गोशाला-संबंधी साहित्य पढ़ा और आश्रम की सभी गायों का नामकरण किया और सभी गोरुओं से मित्रता पैदा कर ली।

जब चर्मालय खुला तब भी वह वैसे ही दृढ़ थे। ज़रा दम लेने की फुर्सत मिलते ही वह चमड़े के सिद्धान्त भी सीखनेवाले थे। राजकोट के हाई स्कूल की शिक्षा के अलावा और जो कुछ वह इतनी अच्छी तरह जानते थे, उन्होंने वह सब स्वानुभव की कठिन पाठशाला में सीखा था। उन्होंने देहाती बढ़ई, देहाती बुनकर, किसान, चरवाहों और ऐसे ही मामूली लोगों से सीखा था।

वह चर्खा-संघ के शिक्षण-विभाग के व्यवस्थापक थे। श्री वल्लभ भाई ने बाढ़ के जमाने में उन्हें विट्ठलपुर का नया गांव बनाने का भार दिया था।

वह आदर्श पिता थे। उन्होंने अपने बच्चों को, दो लड़कियों और एक लड़के को, ऐसी शिक्षा दी थी कि जिसमें वे देश के लिए उपहार बनने के लिए योग्य हों। उनका पुत्र केशव यंत्र-विद्या में बड़ी कुशलता दिखला रहा है। उसने भी अपने पिता

के ही समान यह सब मामूली लुहार-बढ़इयों को काम करते देखकर सीखा है। उनकी सबसे बड़ी लड़की राधा ने अपने मत्थे बिहार में स्त्रियों की स्वाधीनता के संबंध में एक मुश्किल और नाजुक काम उठाया था। सच ही तो, वह यह पूरा-पूरा जानते थे कि राष्ट्रीय शिक्षा कैसी होनी चाहिए और वह शिक्षकों को प्राय: इस विषय पर गंभीर और विचारपूर्वक चर्चा में लगाया करते थे।

पाठक यह न समझें कि उन्हें राजनीति का कुछ ज्ञान ही नहीं था। उन्हें ज्ञान जरूर था; किंतु उन्होंने आत्मत्याग का रचनात्मक और शांत पथ चुना था।

वह मेरे हाथ थे, मेरे पैर थे और थे मेरी आंखें। दुनिया को क्या पता कि मैं जो इतना बड़ा आदमी कहा जाता हूं, वह बड़प्पन मेरे शांत, श्रद्धालु, योग्य और पवित्र स्त्री तथा पुरुष कार्यकर्त्ताओं के अविरल परिश्रम और सेवा पर कितना निर्भर है, और उन सबमें मेरे लिए मगनलाल सबसे बड़े, सबसे अच्छे और सबसे अधिक पवित्र थे।

यह लेख लिखते हुए भी अपने प्यारे पति के लिए विलाप करती हुई उनकी विधवा की सिसक मैं सुन रहा हूं। मगर वह क्या समझेगी कि उससे अधिक विधवा, अनाथ मैं ही हो गया हूं। अगर ईश्वर में मेरा जीवंत विश्वास न होता तो उसकी मृत्यु पर, जोकि मुझे अपने सगे पुत्रों से भी अधिक प्रिय था, जिसने मुझे कभी धोखा न दिया, मेरी आशाएं न तोड़ीं, जो अध्यवसाय की मूर्त्ति था, जो आश्रम के भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक सभी अंगों का सच्चा चौकीदार था, मैं विक्षिप्त हो जाता। उनका जीवन मेरे लिए उत्साहदायक है, नैतिक नियम की अमोघता और उच्चता का प्रत्यक्ष प्रदर्शन है। उन्होंने अपने ही जीवन में मुझे एक-दो दिनों में नहीं, कुछ महीनों में नहीं, बल्कि पूरे चौबीस वर्षों तक की बड़ी अवधि में—हाय, जोअब घड़ी भर का समय जान पड़ता है—यह साबित कर दिखलाया कि देश-सेवा और मनुष्य-सेवा, आत्म-ज्ञान या ब्रह्मज्ञान आदि सभी शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं।

मगनलाल न रहे, मगर अपने सभी कामों में वह जीवित हैं, जिनकी छाप, आश्रम की धूल में से दौड़कर निकल जानेवाले भी, देख सकते हैं ।[1]

... ...

उनके जैसा सरदार अगर मुझे मिला होता तो उन्होंने जितनी मेरी सेवा की थी, उतनी मैं अपने सरदार की नहीं कर सकता। उनका जीवन संपूर्ण था। आश्रम के वह प्राण थे। मैं तो केवल घूमता फिरा और आश्रम के प्रति बेवफा रहा। उन्होंने आश्रम की सेवा में अपना शरीर गला दिया था। मैं मीराबाई के समान जहर का प्याला पी सकता हूं, मेरे गले में कोई सांपों की माला डाल दे तो उसे सहन कर सकता हूं, किंतु यह वियोग उन दोनों से भी अधिक कठिन है। तो भी छाती कठिन करके, उनका गुण-कीर्तन करते हुए मैंने अपने हृदय में उनकी मूर्त्ति स्थापित की है।[2]

... ...

रूखी बहन[3] बिल्कुल बच्ची थी, तब से संतोक[4] के जीते-जी भी मगनलाल के हाथों पली थी। इसके जीने की शायद ही आशा थी। मुश्किल से सांस ले सकती थी। इस लड़की को मगन-लाल नहलाते, बाल संवारते और पास बैठाकर खिलाते थे और अपने दूसरे बच्चों की भी देखभाल करते थे। फिर भी नौकरी में सबसे ज्यादा काम करते थे। सुंदर-से-सुंदर बाड़ी उन्होंने बनाई थी। फिनिक्स में पहला गुलाब का फूल उन्हींने उगाया था। फिनिक्स की कितनी ही सख्त जमीन में जब उनकी कुदाली की चोट पड़ती थी तब धरती कांपती मालूम होती थी।

मगनलाल में आत्म-विश्वास था। अपने काम के बारे में श्रद्धा थी। और भगवान् ने उन्हें बलवान शरीर दिया था। यह

---

[1] हिंदी नव जीवन, २६-४-२८

[2] हिंदी नव जीवन ३-५-२८

[3] [4] मगनलाल गांधी की पुत्रियां

शरीर अंत में आश्रम के बोझ से और उनकी तपश्चर्या से कमजोर हो गया था ।[1]

... ...

उन्होंने आश्रम के लिए जन्म लिया था । सोना जैसे अग्नि में तपता है वैसे मगनलाल सेवाग्नि में तपे और कसौटी पर सौ फी-सदी खरे उतरकर दुनिया से कूच कर गये । आश्रम में जो कोई भी है वह मगनलाल की सेवा की गवाही देता है ।[2]

: ७ :

गोपालकृष्ण गोखले

गुरु के विषय में शिष्य क्या लिखे । उसका लिखना एक प्रकार की धृष्टता मात्र है । सच्चा शिष्य वही है जो गुरु में अपने-को लीन कर दे, अर्थात् वह टीकाकार हो ही नहीं सकता । जो भक्ति दोष देखती हो वह सच्ची भक्ति नहीं और दोष गुण के पृथक्करण में असमर्थ लेखक द्वारा की गई गुरु-स्तुति को यदि सर्वसाधारण अंगीकार न करें तो इसपर उसे नाराज होने का अधिकार नहीं हो सकता । शिष्य के आचरणों ही से गुरु की टीका होती है । गोखले राजनैतिक विषयों में मेरे गुरु थे, इस बात को मैं अनेक बार कह चुका हूं । इस कारण उनके विषय में कुछ लिखने में मैं अपनेको असमर्थ समझता हूं । मैं चाहे जितना लिख जाऊं, मुझे थोड़ा ही मालूम होगा । मेरे विचार से गुरु-शिष्य का संबंध शुद्ध आध्यात्मिक संबंध है । वह अंकशास्त्र के नियमानुसार नहीं होता । कभी-कभी वह हमारे बिना जाने भी हो जाता है । उसके होने में एक क्षण से अधिक नहीं लगता, पर एक बार होकर वह फिर टूटना जानता ही नहीं ।

---

[1] महादेव भाई की डायरी, भाग १, ८-७-३२

[2] 'यरवडा-मंदिर से' ३०-५-३२

१८९६ ई० में पहले-पहल हम दोनों व्यक्तियों में यह संबंध हुआ। उस समय न मुझे उनका खयाल था और न उन्हें मेरा। उसी समय मुझे गुरुजी के भी गुरु लोकमान्य तिलक, सर फिरोज-शाह मेहता, जस्टिस बदरुद्दीन तैयबजी, डा० भांडारकर तथा बंगाल और मद्रास प्रांत के और भी अनेक नेताओं के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैं उस समय बिल्कुल नवयुवक था, मुझ-पर सबने प्रेम-वृष्टि की। सबके एकत्र दर्शन का वह प्रसंग मुझे कभी न भूलेगा; परंतु गोखले से मिलकर मेरा हृदय जितना शीतल हुआ उतना औरों से मिलने से नहीं हुआ। मुझे याद नहीं आता कि गोखले ने मुझपर औरों की अपेक्षा अधिक प्रेम-वृष्टि की थी। तुलना करने से मैं कह सकता हूं कि डा० भांडारकर ने मुझपर जितना अनुराग प्रकट किया उतना और किसीने नहीं किया। उन्होंने कहा—"यद्यपि मैं आजकल सार्वजनिक कार्यों से अलग रहता हूं, फिर भी केवल तुम्हारी खातिर मैं उस सभा का अध्यक्ष बनना स्वीकार करता हूं, जो तुम्हारे प्रश्न पर विचार करने के लिए होनेवाली है।" यह सब होते हुए भी केवल गोखले ही ने मुझे अपने प्रेम-पाश में आबद्ध किया। उस समय मुझे इस बात का बिल्कुल ज्ञान नहीं हुआ। पर सन् १९०२ वाली कलकत्ते की कांग्रेस में मुझे अपने शिष्य-भाव का पूरा-पूरा अनुभव हुआ। उपर्युक्त नेताओं में से अनेक के दर्शनों का उस समय मुझे फिर सौभाग्य प्राप्त हुआ। किंतु मैंने देखा कि गोखले को मेरी याद बनी हुई थी। देखते ही उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया। वह मुझे अपने घर खींच ले गये। मुझे भय था कि विषय-निर्वाचिनी-समिति में मेरी बात न सुनी जायगी। प्रस्तावों की चर्चा शुरू हुई और खतम भी हो गई, पर मुझे अंत तक यह कहने का साहस न हुआ कि मेरे मन में भी दक्षिण अफ्रीका-संबंधी एक प्रश्न है। मेरे लिए रात को कौन बैठा रहता! नेतागण काम को जल्दी निपटाने के लिए आतुर हो गये। उनके उठ जाने के डर से मैं कांपने लगा। मुझे गोखले को याद दिलाने का भी साहस न हुआ।

इतने में वह स्वयं ही बोले—मि० गांधी भी दक्षिण अफ्रीका के हिंदुस्तानियों की दशा के संबंध में एक प्रस्ताव करना चाहते हैं। उसपर अवश्य विचार किया जाय। मेरे आनंद की सीमा न रही। राष्ट्रसभा के संबंध में मेरा यह पहला ही अनुभव था। इसलिए उससे स्वीकृत होनेवाले प्रस्तावों का मैं बड़ा महत्त्व समझता था। इसके बाद भी उनके दर्शन के कितने ही अवसर उपस्थित हुए और वे सभी पवित्र हैं। पर इस समय जिस बात को मैं उनका महामंत्र मानता हूं, उसका उल्लेख कर, इसे पूर्ण करना उत्तम होगा।

इस कठिन कलिकाल में किसी विरले ही मनुष्य में शुद्ध धर्मभाव देख पड़ता है। ऋषि, मुनि, साधु आदि नाम धारण कर भटकते फिरनेवालों को इस भाव की प्राप्ति शायद ही कभी होती है। आजकल उनका धर्म-रक्षक पद से च्युत हो जाना सभी लोग देख रहे हैं। यदि एक ही सुंदर वाक्य में धर्म की पूरी व्याख्या कही है तो वह भक्त-शिरोमणि गुजराती कवि नरसिह मेहता के इस वाक्य में है :

"ज्यां लगी आतमा तत्व चीन्यो नहीं,
त्यां लागी साधना सर्व जूठी।"

अर्थात्—"जबतक आत्मतत्व की पहचान न हो तबतक सभी साधनाएं निरर्थक हैं।" यह वचन उसके अनुभव-सागर के मंथन से निकला हुआ रत्न है। इससे ज्ञात होता है कि महा-तपस्वी तथा योगीजनों में भी (सच्चा) धर्मभाव होना अनिवार्य नहीं है। गोखले को आत्मतत्व का उत्तम ज्ञान था, इसमें मुझे तनिक भी संदेह नहीं। यद्यपि वह सदा ही धार्मिक आडंबरसे दूर रहे, फिर भी उनका संपूर्ण जीवन धर्ममय था। भिन्न-भिन्न युगों में मोक्ष-मार्ग पर लगानेवाली प्रवृत्तियां देखी गई हैं। जब-जब धर्मबंधन ढीला पड़ता है तब-तब कोई एक विशेष प्रवृत्ति धर्म-जागृति में विशेष उपयोगी होती है। यह विशेष प्रवृत्ति उस समय की परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की होती

है। आजकल हम अपनेको राजनैतिक विषयों में अवनत देखते हैं। एकांगी दृष्टि से विचार करने से जान पड़ेगा कि राजनैतिक सुधार से ही अन्य बातों में हम उन्नति कर सकेंगे। यह बात एक प्रकार से सच भी है। राजनैतिक अवस्था के सुधार के बिना उन्नति होना संभव नहीं। पर राजनैतिक स्थिति में परिवर्तन होने ही से उन्नति न होगी। परिवर्तन के साधन यदि दूषित तथा घृणित हुए तो उन्नति के बदले और अवनति ही होने की अधिकतर संभावना है। जो परिवर्तन शुद्ध और पवित्र साधनों से किया जाता है वही हमें उच्च मार्ग पर ले जा सकता है। सार्वजनिक कामों में पड़ते ही गोखले को इस तत्व का ज्ञान हो गया था और इसको उन्होंने कार्य में भी परिणत किया। यह बात सभी लोग जानते थे कि यह भव्य विचार उन्होंने अपनी भारत-सेवक-समिति तथा संपूर्ण जन-समुदाय के सम्मुख रखा कि यदि राजनीति को धार्मिक स्वरूप दिया जायगा तो यही मोक्ष-मार्ग पर ले जानेवाली हो जायगी। उन्होंने साफ कह दिया कि जबतक हमारे राजनैतिक कार्यों को धर्मभाव की सहायता न मिलेगी तबतक वे सूखे, रस-हीन, ही बने रहेंगे। उनकी मृत्यु पर 'टाइम्स ऑव इंडिया' में जो लेख प्रकाशित हुआ था उसके लेखक ने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया था और राजनैतिक संन्यासी उत्पन्न करने के उनके प्रयत्न की सफलता पर अविश्वास प्रकट करते हुए, उनकी यादगार 'भारत-सेवक-समिति' का ध्यान इसकी ओर आकर्षित किया था। वर्तमान काल में राजनैतिक संन्यासी ही संन्यासाश्रम की गौरववृद्धि कर सकते हैं। अन्य गेरुवा वस्त्रधारी संन्यासी उसकी अपकीर्ति के ही कारण हैं। शुद्ध धर्म-मार्ग में चलनेवाले किसी भारतवासी का राजनैतिक कामों से परे रहना कठिन है। उसी बात को मैं दूसरी तरह अंगीकार किये बिना रह ही नहीं सकता। और आजकल की राज्य-व्यवस्था के जाल में हम इस तरह फंस गये हैं कि राजनीति से अलग रहते हुए, लोक-सेवा करना सर्वथा असंभव ही है। पूर्व समय में जो किसान इस बात को जाने बिना

भी कि जिस देश में हम बसते हैं, उसका अधिकारी कौन है, अपनी जीवन-यात्रा भलीभांति निर्वाह कर लेता था, वह आज ऐसा नहीं कर सकता। ऐसी दशा में उसका धर्माचरण राजनैतिक परिस्थिति के अनुसार ही होना चाहिए। यदि हमारे साधु, ऋषि, मुनि, मौलवी और पादरी इस उच्च तत्व को स्वीकार कर लें तो जहां देखिये वहीं भारत-सेवक-समितियां ही दिखाई देने लगें और भारत में धर्मभाव इतना व्यापक हो जाय कि जो राजनैतिक चर्चा आज लोगों को अरुचिकर होती है वही उन्हें पवित्र और प्रिय मालूम होने लगे, फिर पहले ही की तरह भारतवासी धार्मिक साम्राज्य का उपभोग करने लगें। भारत का बंधन एक क्षण में दूर हो जाय और वह स्थिति प्रत्यक्ष आंखों के सामने आ जाय, जिसका दर्शन एक प्राचीन कवि ने अपनी अमरवाणी में इस प्रकार किया है—फौलाद से तलवार बनाने का नहीं, बल्कि (हल की) फाल बनाने का काम लिया जायगा और सिंह और बकरे साथ-साथ विचरण करेंगे। ऐसी स्थिति उत्पन्न करनेवाली प्रवृत्ति ही गुरुवर गोखले का जीवन-मंत्र थी। यही उनका संदेश है और मुझे विश्वास है कि शुद्ध और सरल मन से विचार करने पर उनके भाषणों[1] के प्रत्येक शब्द में यह मंत्र लक्षित होगा।

... ...

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

श्री कृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिया था, वही उपदेश भारत-माता ने महात्मा गोखले को दिया था और उनके आचरणों से सूचित होता है कि उन्होंने उसका पालन भी किया है। यह सर्वमान्य बात है कि उन्होंने जो-जो किया, जिस-जिस का उपभोग

---

[1] स्वर्गीय गोखले की पुण्य-तिथि के उपलक्ष में उनके भाषणों तथा लेखों के गुजराती संग्रह की भूमिका।

किया, जो स्वार्थ त्याग किया, जिस तप का आचरण किया, वह सभी कुछ उन्होंने भारत-माता के चरणों में अर्पण कर दिया।

केवल देश ही के लिए जन्म लेनेवाले इस महात्मा का अपने देश-बंधुओं के प्रति क्या संदेश है ? 'भारत-सेवक-समिति' के जो सेवक महात्मा गोखले के अंतिम समय में उनके पास उपस्थित थे, उन्हें उन्होंने निम्नलिखित वाक्य कहे थे :

"(तुम लोग) मेरा जीवन-चरित लिखने न बैठना, मेरी मूर्ति बनवाने में भी अपना समय मत लगाना। तुम लोग भारत के सच्चे सेवक होगे तो अपने सिद्धांत के अनुसार आचरण करने अर्थात् भारत की ही सेवा करने में अपनी आयु व्यतीत करोगे।"

सेवा के संबंध में उनके आंतरिक विचार हमें मालूम हैं। राष्ट्रीय सभा का कार्य-संचालन, भाषण तथा लेख द्वारा जनता को देश की सच्ची स्थिति का ज्ञान कराना, प्रत्येक भारतवासी को साक्षर बनाने का प्रयत्न कराना, ये सब काम सेवा ही हैं। पर किस उद्देश्य और किस प्रणाली से यह सेवा की जाय ? इस प्रश्न का वह जो उत्तर देते वह उनके इस वाक्य से प्रकट होता है। अपनी संस्था ('भारत-सेवक-समिति') की नियमावली बनाते हुए उन्होंने लिखा है, "सेवकों का कर्त्तव्य भारत के राजनैतिक जीवन को धार्मिक बनाना है।" इसी एक वाक्य में सब-कुछ भरा हुआ है। उनका जीवन धार्मिक था। मेरा विवेक इस बात का साक्षी है कि उन्होंने जो-जो काम किये, सब धर्मभाव ही की प्रेरणा से किये। बीस साल पहले उनका कोई-कोई उद्गार या कथन नास्तिकों का-सा होता था। एक बार उन्होंने कहा था—"क्या ही अच्छा होता यदि मुझमें भी वही श्रद्धा होती, जो रानडे में थी।" पर उस समय भी उनके कार्यों के मूल में उनकी धर्म-बुद्धि अवश्य रहती थी। जिस पुरुष का आचरण साधुओं के सदृश्य है, जिसकी वृत्ति निर्मल है, जो सत्य की मूर्ति है, जो नम्र है जिसने सर्वथा अहंकार का परित्याग कर दिया है, वह निस्संदेह

धर्मात्मा है। गोखले इसी कोटि के महात्मा थे। यह बात मैं उनके लगभग २० वर्षों की संगति के अनुभव से कह सकता हूं।

१८९६ में मैंने नेटाल की शर्त्तबंदी की मजदूरी पर भारत में वाद-विवाद आरंभ किया। उस समय कलकत्ता, बंबई, पूना, मद्रास आदि स्थानों के नेताओं से मेरा पहले-पहल संबंध हुआ। उस समय सब लोग जानते थे कि महात्मा गोखले रानडे के शिष्य हैं। फर्ग्यूसन कालेज को वह अपना जीवन भी अर्पण कर चुके थे, और मैं उस समय एक निरा अनुभवहीन युवक था। मैं पहले-पहल पूना में उनसे मिला। इस पहली ही भेंट में हम लोगों में जितना घनिष्ठ संबंध हो गया उतना और किसी नेता से नहीं हुआ। महात्मा गोखले के विषय में जो बातें मैंने सुनी थीं वे सब प्रत्यक्ष देखने में आईं। उनकी वह प्रेम-युक्त और हास्यमय मूर्त्ति मुझे कभी न भूलेगी। मुझे उस समय मालूम हुआ कि मानो वह साक्षात् धर्म की ही मूर्ति हैं। उस समय मुझे रानडे के भी दर्शन हुए थे। पर उनके हृदय में मैं स्थान न पा सका। मैं उनके विषय में केवल इतना ही जान सका कि वह गोखले के गुरु हैं। अवस्था और अनुभव में वह मुझसे बहुत अधिक बड़े थे, इस कारण अथवा और किसी कारण से मैं रानडे को उतना न जान सका, जितना कि गोखले को मैंने जाना।

१८९६ ई० के अवसर से ही गोखले का राजनैतिक जीवन मेरे लिए आदर्श-स्वरूप हुआ। उसी समय से उन्होंने राजनैतिक गुरु के नाते मेरे हृदय में निवास किया। उन्होंने सार्वजनिक सभा (पूना) की त्रैमासिक पुस्तक का संपादन किया। उन्होंने फर्ग्यूसन-कालेज में अध्यापन-कार्य करके उसे उन्नत दशा को पहुंचाया। उन्होंने वेल्बी-कमीशन के सामने गवाही देकर अपनी वास्तविक योग्यता का प्रमाण दिया, उनकी बुद्धिमत्ता की छाप लार्ड कर्जन पर—उन लार्ड कर्जन पर जो अपने सामने किसीको कुछ न गिनते थे—बैठी और वह उनसे शंकित रहने लगे।

उन्होंने बड़े-बड़े काम करके मातृभूमि की कीर्ति को उज्ज्वल

किया। पब्लिक-सर्विस-कमीशन का काम करते समय उन्होंने अपने जीने-मरने तक की परवा न की। उनके इन तथा अन्य कार्यों का दूसरे व्यक्तियों ने उत्तम रीति से वर्णन किया है।

... ...

जनरल बोथा तथा स्मट्स से जब उन्होंने दक्षिण अफ्रीका की राजधानी प्रिटोरिया में मुलाकात की थी उस समय इस मुलाकात के लिए तैयार होने में उन्होंने जितना परिश्रम किया था वह मुझे इस जन्म में नहीं भूल सकता। मुलाकात के पहले दिन उन्होंने मेरी और मि० कैलेनबेक की परीक्षा ली। वह स्वयं रात के तीन ही बजे जाग पड़े और हम लोगों को भी उन्होंने जगाया। उन्हें जो पुस्तकें दी गई थीं उनको उन्होंने अच्छी तरह पढ़ लिया था। अब हम लोगों से जिरह करके वह इस बात का निश्चय करना चाहते थे कि उनकी तैयारी पूरी हुई या अभी उसमें कसर है। मैंने उनसे विनयपूर्वक कहा कि इतना परिश्रम अनावश्यक है। हम लोगों को तो कुछ मिले या न मिले, लड़ना ही होगा; पर अपने आराम के लिए मैं आपका बलिदान नहीं करना चाहता। पर जिस पुरुष ने सर्वदा काम में लगे रहने की आदत ही बना रखी थी, वह मेरी बातों पर कब ध्यान देता! उनकी जिरहों का मैं क्या वर्णन करूं। उनकी चिंताशीलता की कितनी प्रशंसा करूं। इतने परिश्रम का एक ही परिणाम होना चाहिए था। मंत्रि-मंडल ने वचन दिया कि आगामी बैठक में सत्याग्रहियों की आकांक्षाओं को स्वीकार करने वाला कानून पास किया जायगा और मजदूरों को ४५ रुपयों का जो कर देना पड़ता है वह माफ कर दिया जायगा।

पर इस वचन का पालन नहीं किया गया। तो क्या गोखले निश्चेष्ट हो बैठ रहे? एक क्षण के लिए भी नहीं। मेरा विश्वास है कि १९१३ ई० में उक्त वचन को पूरा कराने के लिए उन्होंने जो अविराम श्रम किया, उससे उनके जीवन के दस वर्ष अवश्य छीजे होंगे। उनके डाक्टर की भी यही राय है। उस वर्ष भारत में जागृति उत्पन्न करने और द्रव्य एकत्र करने के लिए उन्होंने जितने

कष्ट सहे, उनका अनुमान कठिन है। यह महात्मा गोखले का ही प्रताप था कि दक्षिण अफ्रीका के प्रश्न पर भारतवर्ष हिल उठा। लार्ड हार्डिज ने मद्रास में इतिहास में यादगार होने योग्य जो भाषण दिया वह भी उन्हींका प्रताप था। उनसे घनिष्ठ परिचय रखनेवालों का कहना है कि दक्षिण अफ्रीका के मामले की चिंता ने उन्हें चारपाई पर डाल दिया, फिर भी अंत तक उन्होंने विश्राम करना स्वीकार न किया। दक्षिण अफ्रीका से आधी रात को आने वाले पत्र-सरीखे लंबे-चौड़े तारों को उसी क्षण पढ़ना, जवाब तैयार करना, लार्ड हार्डिज के नाम पर तार भेजना, समाचार-पत्रों में प्रकाशित कराये जानेवाले लेख का मसविदा तैयार करना और इन कामों की भीड़ में खाने और सोने तक की याद न रहना, रात-दिन एक कर डालना, ऐसी अनन्य निस्स्वार्थ भक्ति वही करेगा जो धर्मात्मा हो।

हिंदू और मुसलमान के प्रश्न को भी वह धार्मिक दृष्टि से ही देखते थे। एक बार अपनेको हिंदू कहनेवाला एक साधु उनके पास आया और कहने लगा कि मुसलमान नीच हैं और हिंदू उच्च। महात्मा गोखले को अपने जाल में फंसते न देख उसने उन्हें दोष देते हुए कहा कि तुम में हिंदुत्व का तनिक भी अभिमान नहीं। महात्मा गोखले ने भंवें चढ़ाकर हृदय-भेदी स्वर में उत्तर दिया—"यदि तुम जैसा कहते हो वैसा करने ही में हिंदुत्व है तो मैं हिंदू नहीं। तुम अपना रास्ता पकड़ो।"

महात्मा गोखले में निर्भयता का गुण बहुत अधिक था। धर्मनिष्ठा में इस गुण का स्थान प्रायः सर्वोच्च है। लेफ्टिनेंट रैंड की हत्या के पश्चात् पूना में हलचल मच गई थी। गोखले उस समय इंग्लैंड में थे। पूनावालों की तरफ से वहां उन्होंने जो व्याख्यान दिये वे सारे जगत में प्रसिद्ध हैं। उनमें वह कुछ ऐसी बातें कह गये थे, जिनका पीछे वह सबूत न दे सकते थे। थोड़े ही दिनों बाद वह भारत लौटे। अपने भाषणों में उन्होंने अंग्रेज सिपाहियों पर जो इलजाम लगाया था उसके लिए उन्होंने माफी मांग ली। इस

माफी मांगने के कारण यहां के बहुत-से लोग उनसे नाराज भी हो गये। महात्मा को कितने ही लोगों ने सार्वजनिक कामों से अलग हो जाने की सलाह दी। कितने ही नासमझों ने उनपर भीरुता का आरोप करने में भी आगापीछा न किया। इन सबका उन्होंने अत्यंत गंभीर और मधुर भाषा में यही उत्तर दिया—"देश-सेवा का कार्य मैंने किसीकी आज्ञा से अंगीकार नहीं किया है और किसीकी आज्ञा से उसे मैं छोड़ भी नहीं सकता। अपना कर्त्तव्य करते हुए यदि मैं लोकपक्ष के साथ रहने के योग्य समझा जाऊं तो अच्छा ही है, पर यदि मेरे भाग्य वैसे न हों तो भी मैं उसे अच्छा ही समझूंगा।" काम करना उन्होंने अपना धर्म माना था। जहांतक मेरा अनुभव है, उन्होंने कभी स्वार्थ-दृष्टि से इस बात का विचार नहीं किया कि मेरे कार्यों का जनता पर क्या प्रभाव पड़ेगा। मेरा विश्वास है कि उनमें वह शक्ति थी जिससे यदि देश के लिए उन्हें फांसी पर चढ़ना होता तो भी वह अविचलित चित्त से हंसते हुए फांसी पर चढ़ जाते। मैं जानता हूं कि अनेक बार उन्हें जिन अवस्थाओं में रहना पड़ा है उनमें रहने की अपेक्षा फांसी पर चढ़ना कहीं सहज था। ऐसी विकट परिस्थितियों का उन्हें अनेक बार सामना करना पड़ा, पर उन्होंने कभी पांव पीछे न हटाया।

इनसब बातों से तात्पर्य यह निकलता है कि यदि इस महान् देशभक्त के चरित्र का कोई अंश हमारे ग्रहण करने योग्य है तो वह उनका धर्म-भाव ही है। उसीका अनुकरण करना हमें उचित है। हम सब लोग बड़ी व्यवस्थापिका सभा के सदस्य नहीं हो सकते। हम यह भी नहीं देखते कि उसके सदस्य होने से देश-सेवा हो ही जाती है। हम सब लोग पब्लिक-सर्विस-कमीशन में नहीं बैठ सकते। यह बात भी नहीं है कि उसमें के सब बैठनेवाले देशभक्त ही होते हैं। हम सब लोग उनकी बराबरी के विद्वान् नहीं हो सकते और विद्वानमात्र के देश-सेवक होने का भी हमें अनुभव नहीं है। परंतु निर्भयता, सत्य, धैर्य, नम्रता, न्यायशीलता, सरलता और

अध्यवसाय आदि गुणों का विकास कर उन्हें देश के लिए अर्पण करना सबके लिए साध्य है, यही धर्मभाव है । राजनैतिक जीवन को धर्ममय करने का यही अर्थ है। उक्त वचन के अनुसार आचरण करनेवाले को अपना पथ सदा ही सूझता रहेगा। महात्मा गोखले की संपत्ति का भी वही उत्तराधिकारी होगा । इस प्रकार की निष्ठा से काम करनेवाले को और भी जिन-जिन विभूतियों की आवश्यकता होगी वे सब प्राप्त होंगी । यह ईश्वर का वचन है और महात्मा गोखले इसका ज्वलंत प्रमाण हैं ।[1]

विश्व-बंधुत्व की भावना उन्होंने स्वयं अपने जीवन में चरितार्थ करके दिखा दी, इस बात को उनके साथी खूब अच्छी तरह से जानते हैं। पारिया (अंत्यज) कहे जानेवाले भाइयों से वह खूब दिल खोलकर मिलते थे। यह बात उनमें नहीं थी कि वह किसी पर कृपा या अहसान कर रहे हैं। उनके हृदय में तो केवल सेवा का ही आदर्श था। उनका विश्वास था कि सार्वजनिक आदमी जनता के नेता नहीं, बल्कि सेवक हैं। उनकी दृष्टि में सबसे बड़ा सेवक ही सबसे बड़ा नेता था। वह हर तरह एक सच्चे जन्मना ब्राह्मण थे। वह जन्मजात अध्यापक भी थे। उनसे जब कोई 'प्रोफेसर' कहता तो बड़े प्रसन्न होते थे। विनम्रता की तो वह मूर्ति थे। राष्ट्र को उन्होंने अपना सर्वस्व दे दिया था। चाहते तो वह मालामाल हो जाते, लेकिन उन्होंने तो स्वेच्छा से गरीबी का ही बाना पसंद किया।. . .गोखले ने एक महान अवसर पर लिखा था, "जो सेवा किसी व्यक्ति के कहने से हाथ में नहीं ली जाती, वह किसी दूसरे की आज्ञा से त्यागी भी नहीं जा सकती। इसलिए सबसे निरापद नियम तो यह है कि मनुष्य को हम उसके वर्तमान रूप में ही ग्रहण करें, फिर चाहे जिस कुल में वह पैदा हुआ हो और उसकी जाति या उसका रंग चाहे जो हो।"[2]

---

[1] 'महात्मा गांधी' रामचंद्र वर्मा लिखित

[2] हरिजन-सेवक ९-३-३४

: ८ :

घोषालबाबू

कांग्रेस के अधिवेशन को एक-दो दिन की देर थी। मैंने निश्चय किया था कि कांग्रेस के दफ्तर में यदि मेरी सेवा स्वीकार हो तो कुछ सेवा करके अनुभव प्राप्त करूं।

जिस दिन हम आये उसी दिन नहा-धोकर मैं कांग्रेस के दफ्तर में गया। श्री भूपेंद्रनाथ बसु और श्रीघोषाल मंत्री थे। भूपेनबाबू के पास पहुंचकर कोई काम मांगा। उन्होंने मेरी ओर देखकर कहा, "मेरे पास तो कोई काम नहीं है, पर शायद मि० घोषाल तुमको कुछ बतावेंगे। उनसे मिलो।"

मैं घोषालबाबू के पास गया। उन्होंने मुझे नीचे से ऊपर तक देखा। कुछ मुस्कराये और बोले, "मेरे पास कारकुन का काम है। करोगे?"

मैंने उत्तर दिया, "जरूर करूंगा। अपने बस भर सबकुछ करने के लिए मै आपके पास आया हूं।"

"नवयुवक, सच्चा सेवा-भाव इसीको कहते हैं।"

कुछ स्वयं-सेवक उनके पास खड़े थे। उनकी ओर मुखातिब होकर कहा, "देखते हो, इस नवयुवक ने क्या कहा?"

फिर मेरी ओर देखकर कहा, "तो लो, यह चिट्ठियों का ढेर, और यह मेरे सामने पड़ी है कुरसी। उसे ले लो। देखते हो न, सैकड़ों आदमी मुझसे मिलने आया करते हैं। अब मैं उनसे मिलूं या जो लोग फालतू चिट्ठियां लिखा करते हैं उन्हें उत्तर दूं? मेरे पास ऐसे कारकुन नहीं कि जिनसे मैं यह काम करा सकूं। इन चिट्ठियों में बहुतेरी तो फिजूल होंगी, पर तुम सबको पढ़ जाना। जिनकी पहुंच लिखना जरूरी हो उनकी पहुंच लिख देना और जिनके उत्तर के लिए मुझसे पूछना हो पूछ लेना।"

उनके इस विश्वास से मुझे बड़ी खुशी हुई।

श्री घोषाल मुझे पहचानते न थे। नाम-ठाम तो मेरा उन्होंने

बाद को जाना। चिट्ठियों के जवाब आदि का काम आसान था। सारे ढेर को मैंने तुरंत निपटा दिया। घोषालबाबू खुश हुए। उन्हें बात करने की आदत बहुत थी। मैं देखता था कि वह बातों में बहुत समय लगाया करते थे। मेरा इतिहास जानने के बाद तो कारकुन का काम देने में उन्हें जरा शर्म मालूम हुई, पर मैंने उन्हें निश्चिंत कर दिया।

"कहां मैं और कहां आप! आप कांग्रेस के पुराने सेवक, मेरे नजदीक तो आप मेरे बुजुर्ग हैं। मैं ठहरा अनुभवहीन नवयुवक! यह काम सौंपकर मुझपर तो आपने अहसान ही किया है; क्योंकि मुझे आगे चलकर कांग्रेस में काम करना है। उसके काम-काज को समझने का अलभ्य अवसर आपने मुझे दिया है।"

"सच पूछो तो यही सच्ची मनोवृत्ति है। परंतु आजकल के नवयुवक ऐसा नहीं मानते। पर मैं तो कांग्रेस को उसके जन्म से जानता हूं। उसकी स्थापना करने में मि० ह्यूम के साथ मेरा भी हाथ था।" घोषालबाबू बोले।

हम दोनों में खासा संबंध हो गया। दोपहर के खाने के समय वह मुझे साथ रखते। घोषालबाबू के बटन भी 'बेरा' लगाता। यह देखकर 'बेरा' का काम खुद मैंने लिया। मुझे वह अच्छा लगता। बड़े-बूढ़ों की ओर मेरा बड़ा आदर रहता था। जब वह मेरे मनो-भावों से परिचित हो गये तब अपना निजी सेवा का सारा काम मुझे करने देते थे। बटन लगवाते हुए मुंह पिचकारकर मुझसे कहते, "देखो न, कांग्रेस के सेवक को बटन लगाने तक की फुरसत नहीं मिलती, क्योंकि उस समय भी वे काम में लगे रहते हैं।" इस भोलेपन पर मुझे मन में हँसी तो आई, परंतु ऐसी सेवा के लिए मन में अरुचि बिल्कुल न हुई। उससे जो लाभ हुआ उसकी कीमत नहीं आंकी जा सकती।[१]

---

[१] आत्मकथा, १६२७

: ९ :

अमृतलाल वि० ठक्कर

ठक्करबापा आगामी २७ नवंबर को ७० वर्ष के हो जायंगे। बापा हरिजनों के पिता हैं और आदि-वासियों और उन सबके भी, जो लगभग हरिजनों की ही कोटि के हैं और जिनकी गणना अर्द्ध-सभ्य जातियों में की जाती है। दिल्ली के हरिजन-निवास-वासियों की तजवीज इस प्रकार उनकी ७०वीं जयंती मनाने की है, जिस से ठक्करबापा के दिवस पर, हरिजन-कार्य के निमित्त, उन्हें ७०००) की एक विनम्र थैली भेंट करना चाहते हैं। इसके लिए उन्होंने मेरा आशीर्वाद मांगा है। यह भी चाहते हैं कि उनके इस शुभ प्रयत्न को मैं प्रकाश में ला दूं। पर मैंने तो उन्हें झिड़का है कि उनमें आत्म-श्रद्धा की कमी है। ठक्करबापा एक विरल लोकसेवक हैं। वह विनम्र स्वभाव के हैं। वह प्रशंसा के भूखे नहीं। उनका जीवन कार्य ही उनका एकमात्र संतोष और विश्राम है। वृद्धावस्था उनके उत्साह को मंद नहीं कर सकी है। वह स्वयं एक संस्था हैं। एक बार जब मैंने उनसे कहा कि वह थोड़ा आराम ले लें तो तुरंत उनका जवाब आया, "जब इतना तमाम काम करने को पड़ा है, तब मैं आराम कैसे ले सकता हूं ? मेरा काम ही मेरा आराम है।" अपने जीवन-कार्य में वह जिस प्रकार अपनी शक्ति लगा रहे हैं, उसे देख कर तो उनके आस-पास रहनेवाले नवयुवक भी लज्जित हो जाते हैं। इतने महान् कार्य के लिए और उस जनसेवक के लिए, जो अपने विशाल वृद्ध कंधों पर इतना भारी भार वहन कर रहा है, ७०००) की थैली एक प्रकार का अपमान है। कार्यकर्त्ताओं का तो यह लक्ष्य होना चाहिए कि सारे हिंदुस्तान से वे ७०,०००) से कम तो किसी हालत में इकट्ठे नहीं करेंगे। महान् सेवा-प्रवृत्ति और उसके सेवा-रत पिता को देखते हुए, यह ७०,०००) की रकम भी कोई चीज नहीं है। लेकिन एक महीने के अंदर यह

रकम इकट्ठी करनी है, इस दृष्टि से यह ठीक ही है।[1]

... ...

भारत-सेवक-समिति को अपने प्राणों की तरह प्रिय समझने-वाले एक मित्र श्री ठक्करबापा-कोष के लिए दस रुपये का चंदा भेजते हुए लिखते हैं—

"श्री ठक्करबापा की प्रशंसा में लिखे गये आपके एक-एक शब्द का मैं समर्थन करता हूं। इस संबंध में मेरी एक ही सूचना है और वह यह कि बापा के पुण्य कार्यों का सारा श्रेय भारत-सेवक-समिति को महज इसलिए नहीं मिलना चाहिए कि बापा उसके एक सदस्य हैं। समिति ने बिना किसी हिचकिचाहट के उनको अपना सदस्य माना है और बापा के द्वारा मानव-जाति की जो महान सेवा हुई है, उसपर हमेशा ही गर्व किया है।"

यह शिकायत बिल्कुल ठीक है। दरअसल, बात तो यह है कि बापा की कई विशेषताओं का उल्लेख करते हुए मैं उनकी एक खास विशेषता का उल्लेख करना भूल गया हूं, इसका मुझे खयाल ही न रहा। बात यह कि भारत-सेवक-समिति की सदस्यता स्वीकार करने से पहले बापा म्युनिसिपल कारपोरेशन, बंबई के रोड इंजीनियर का काम करते थे। हरिजन-सेवक-संघ को उनकी सेवाएं भारत-समिति की ओर से ही बतौर कर्ज के मिली हैं।[2]

बापा की इकहत्तरवीं जयंती मनाने में मुझे हाजिर होना चाहिए। लेकिन मैं इस लायक नहीं रहा हूं। मेरी तो हार्दिक आशा है कि बापा सौ वर्ष पूरे करें। बापा का जन्म ही दलितों की सेवा के लिए है, वह भले ही अस्पृश्य हों या भिल्ल या संताल या खासी इत्यादि। उनकी कदर करने में भी हम दलितों की कुछ-न-कुछ सेवा करते हैं। बापा की सेवा ने हिंदुस्तान को बढ़ाया है।[3]

---

[1] हरिजन सेवक, २१-१०-३९

[2] हरिजन सेवक, ४-११-३९

[3] हरिजन सेवक, ९-१२-३९

: १० :

रवींद्रनाथ ठाकुर

लार्ड हार्डिंज ने डाक्टर रवींद्रनाथ ठाकुर को एशिया के महा-कवि की पदवी दी थी, पर अब रवींद्रबाबू न सिर्फ एशिया के बल्कि संसार भर के महाकवि गिने जा रहे हैं।.... उनके हाथ से भारतवर्ष की सबसे बड़ी सेवा यह हुई है कि उन्होंने अपनी कविता द्वारा भारतवर्ष का संदेश संसार को सुनाया है। इसीसे रवींद्रबाबू को सच्चे हृदय से इस बात की चिंता है कि भारतवासी भारत-माता के नाम से कोई झूठा या सारहीन संदेशा संसार को न सुनावें। हमारे देश का नाम न डूबने पावे, इस बात की चिंता करना रवींद्रबाबू के लिए स्वाभाविक ही है।[1]

... ...

शांतिनिकेतन में आगमन मेरे लिए एक तीर्थ-यात्रा के समान था। बहुत दिनों से मेरी इच्छा वहां जाने की थी, लेकिन यह अवसर मलिकंदा जाते समय ही मुझे मिल सका। मेरे लिए शांतिनिकेतन नया नहीं है। १९१५ में जब इसकी रूपरेखा बन रही थी तब मैं वहीं था। इसका मतलब यह नहीं कि अब इसका निर्माण-क्रम रुक गया है। गुरुदेव खुद विकसित हो रहे हैं। वृद्धा-वस्था के कारण उनके मन के लचीलेपन में कोई अंतर नहीं पड़ा है। इसलिए जबतक गुरुदेव की भावना की छाया उसके ऊपर है तबतक शांतिनिकेतन की वृद्धि रुक नहीं सकती। वहां प्रत्येक मनुष्य की उनके प्रति जो श्रद्धा है वह ऊपर उठानेवाली है, क्योंकि वह सहज है। मुझे तो इसने अवश्य ही ऊंचा उठाया। कृतज्ञ छात्रों और अध्यापकों ने उनको 'गुरुदेव' की जो उपाधि दे रखी है उससे शांतिनिकेतन में उनकी स्थिति ठीक-ठीक व्यक्त होती है। यह स्थिति उनकी इसलिए है कि वह उस

[1] यंग इंडिया, १-६-२१

स्थान और वहां के समूह में निमग्न हो गये हैं, अपनेको भूल गये हैं। मैंने देखा कि वह अपनी प्रियतम कृति 'विश्व भारती' के लिए जी रहे हैं। वह चाहते हैं कि यह फूले-फले और अपने भविष्य के विषय में निश्चित हो जाय। इस-के बारे में उन्होंने मुझसे देर तक बातचीत की। लेकिन इतना भी उनके लिए काफी नहीं था, इसलिए जब हम विदा हो रहे थे तब उन्होंने मुझे नीचे लिखा बहुमूल्य पत्र दिया :

प्रिय महात्माजी,

आपने आज सुबह ही हमारे कार्य के 'विश्व-भारती'-केंद्र का विहंगावलोकन किया है। मैं नहीं जानता कि आपने इसकी मर्यादा का क्या अंदाज लगाया है। आप जानते हैं कि यद्यपि अपने वर्त-मान रूप में यह संस्था राष्ट्रीय है, तथापि अंतःभावना की दृष्टि से यह एक सार्वदेशिक—अंतर्राष्ट्रीय—संस्था है और अपने साधनों के अनुसार भरसक शेष जगत को भारत की संस्कृति का आतिथ्य प्रदान करती है।

एक बड़े गाढ़े अवसर पर आपने बिल्कुल टूटने से इसे बचाया और अपने पांव पर खड़े होने में इसकी सहायता की। आपके इस मित्रतापूर्ण कार्य के लिए हम आपके निकट सदा आभारी हैं।

और अब शांतिनिकेतन से आपके विदा होने के पहले मैं आपसे जोरदार अपील करता हूं कि यदि आप इसे एक राष्ट्रीय संपत्ति समझते हैं तो इस संस्था को अपने संरक्षण में लेकर इसे स्थायित्व प्रदान करें। 'विश्व-भारती' उस नौका के समान है, जो मेरे जीवन के सर्वोत्तम रत्नों से भरी हुई है और मुझे आशा है कि अपनी रक्षा के लिए अपने देशवासियों से यह विशेष देख-रेख पाने का दावा कर सकती है। प्रेमपूर्वक—

रवींद्रनाथ ठाकुर

इस संस्था को अपने संरक्षण में लेनेवाला मैं कौन होता हूं? चूंकि यह एक ईमानदार आत्मा की कृति है, इसलिए ईश्वर का संरक्षण इसके साथ है। वह कोई दिखावे की चीज नहीं है। गुरुदेव

स्वयं सार्वदेशिक—अंतर्राष्ट्रीय—हैं, क्योंकि वह सच्चे रूप में राष्ट्रीय हैं। इसलिए उनकी संपूर्ण कृतियां सार्वदेशिक हैं और 'विश्व-भारती' उन सबमें श्रेष्ठ है। मुझे इसमें किसी तरह का संदेह नहीं कि जहांतक आर्थिक बोझ का संबंध है इसके भविष्य के बारे में गुरुदेव को संपूर्ण चिंता से मुक्त कर देना चाहिए। उनकी हृदयग्राही अपील के जवाब में जो कुछ सहायता करने लायक मैं हूं, करने का मैंने उनको वचन दिया है।[1]

... ...

मैं यहां आप लोगों के लिए कोई अतिथि या महमान बनकर नहीं आया हूं। शांतिनिकेतन तो मेरे लिए घर से भी अधिक है। जब १९१४ में मैं इंग्लैण्ड से लौटनेवाला था तब यहीं तो मेरे दक्षिण अफ्रीकावाले कुटुंब का प्रेमपूर्वक आतिथ्य हुआ था और यहां मुझे भी करीब एक महीने तक आश्रय मिला था। जब मैं आप सब लोगों को अपने सामने एकत्र देखता हूं तो उन दिनों की याद मेरे हृदय पर छा जाती है। मैं कितना चाहता हूं कि यहां ज्यादा दिन ठहरूं, पर अफसोस कि यह संभव नहीं। यहां कर्तव्य का प्रश्न ह। उस दिन एक मित्र को एक पत्र में मैंने लिखा था कि शांतिनिकेतन और मलिकंदा की यह यात्रा मेरे लिए तीर्थ-यात्रा है। सचमुच इस बार शांतिनिकेतन मेरे लिए 'शांति का निकेतन' सिद्ध हुआ। मैं यहां राजनीति की सब चिंता और झंझट छोड़कर मात्र गुरुदेव के दर्शन और आशीर्वाद लेने आया हूं। मैंने अक्सर एक कुशल भिक्षुक होने का दावा किया है। लेकिन आज गुरुदेव का मुझे जो आशीर्वाद मिला है उससे बढ़कर दान मेरी झोली में कभी किसीने नहीं डाला है। मैं जानता हूं कि उनका आशीर्वाद तो मुझे हमेशा ही है। मगर आज मेरा खास सौभाग्य है कि उन्हींके हाथों रूबरू मुझे आशीर्वाद मिला और इस कारण मेरे हर्ष का पार नहीं।[2]

[1] **हरिजन सेवक**, २-३-४०

[2] **हरिजन सेवक**, ३०-३-४०

डा० रवींद्रनाथ टैगोर के निधन में हमने न केवल अपने युग के सबसे बड़े कवि को ही, बल्कि एक उत्कट राष्ट्रवादी को, जो कि मानवता का पुजारी भी था, खो दिया है। शायद ही कोई ऐसी सार्वजनिक प्रवृत्ति होगी, जिसपर उनके शक्तिशाली व्यक्तित्व की छाप न पड़ी हो। शांतिनिकेतन और श्रीनिकेतन के रूप में उन्होंने समस्त राष्ट्र के लिए ही नहीं, अपितु समस्त संसार के लिए विरासत छोड़ी है।[1]

... ...

. . . . टैगोर की क्या बात ! उन्होंने क्या नहीं साधा ? साहित्य का एक भी क्षेत्र उन्होंने छोड़ा है ? और सबमें कमाल ! ऐसी अलौकिक शक्तिवाला आदमी हमारे यहां तो है ही नहीं, लेकिन दुनिया में भी होगा या नहीं, इसमें मुझे शक है।[2]

... ...

गुरुदेव की देह खाक में मिल चुकी है, लेकिन उनके अंदर जो जोत थी, जो उजेला था, वह तो सूरज की तरह था, जो तबतक बना रहेगा जबतक धरती पर जानदार रहेंगे। गुरुदेव ने जो रोशनी फैलाई वह आत्मा के लिए थी। सूरज की रोशनी जैसे हमारे शरीर को फायदा पहुंचाती है, वैसे गुरुदेव की फैलाई रोशनी ने हमारी आत्मा को ऊपर उठाया है। वह एक कवि थे और प्रथम श्रेणी के साहित्यिक थे। उन्होंने अपनी मातृभाषा में लिखा और सारा बंगाल उनकी कविता के झरने से काव्य-रस का गहरा पान कर सका। उनकी रचनाओं के अनुवाद बहुत-सी भाषाओं में हो चुके हैं। वह अंग्रेजी के भी बहुत बड़े लेखक थे और शायद बिना अंग्रेजी जाने ही वह उस जबान के इतने बड़े लेखक बन गये थे। मदरसे की पढ़ाई तो उन्होंने की थी, लेकिन यूनिवर्सिटी की कोई

[1] हरिजन सेवक, ७-८-४१

[2] 'महादेवभाई की डायरी'

डिग्री उन्होंने नहीं ली थी। वह तो बस गुरुदेव ही थे। हमारे एक वाइसराय ने उनको 'एशिया का कवि' कहा था। उससे पहले किसी को ऐसी पदवी नहीं मिली थी। वह समूची दुनिया के भी कवि थे। यही क्यों, वह तो ऋषि थे। हमारे लिए वह अपनी 'गीतांजलि' छोड़ गये हैं, जिसने उनको सारी दुनिया में मशहूर कर दिया। तुलसी-दासजी हमारे लिए अपनी अमर रामायण छोड़ गये हैं। वेदव्यास-जी ने महाभारत के रूप में हमारे लिए मानव-जाति का इतिहास छोड़ा है। ये सब निरे कवि नहीं थे। ये तो गुरु थे। गुरुदेव ने भी सिर्फ कवि के नाते ही नहीं, ऋषि की हैसियत से भी लिखा है। लेकिन सिर्फ लिखना ही उनकी अकेली खासियत नहीं थी। वह एक कलाकार थे, नृत्यकार थे और गायक थे। बढ़िया-से-बढ़िया कला में जो मिठास और पवित्रता होनी चाहिए, वह सब उनमें और उनकी चीजों में थी। नई-नई चीजें पैदा करने की उनकी ताकत ने हमको शांतिनिकेतन, श्रीनिकेतन और विश्व-भारती जैसी संस्थाएं दी हैं। अपनी इन संस्थाओं में वह भावरूप से विराज-मान हैं, और ये अकेले बंगाल को ही नहीं, बल्कि समूचे हिंदुस्तान को उनकी विरासत के रूप में मिली हैं। शांतिनिकेतन तो हम सबके लिए असल में यात्रा का एक धाम ही बन गया है। गुरुदेव अपने जीतेजी इन संस्थाओं को वह रूप नहीं दे पाये, जो वह देना चाहते थे, जिसका वह सपना देखते थे। कौन है, जो ऐसा कर पाया हो? आदमी के मनोरथ को पूरा करना तो भगवान के हाथ में है। फिर भी ये संस्थाएं हमें उनकी कोशिशों की याद दिलावेंगी और हमेशा हमको यह बताती रहेंगी कि गुरुदेव के मन में अपने देश के लिए कितनी गहरी प्रीति थी और उन्होंने उसकी कितनी-कितनी सेवाएं की हैं।[1]

---

[1] हरिजन सेवक, १९-५-४६

: ११ :

लोकमान्य तिलक

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक अब संसार में नहीं है। यह विश्वास करना कठिन मालूम होता है कि वह संसार से उठ गये। हम लोगों के समय में ऐसा दूसरा कोई नहीं, जिसका जनता पर लोकमान्य के जैसा प्रभाव हो। हजारों देशवासियों की उनपर जो भक्ति और श्रद्धा थी वह अपूर्व थी। यह अक्षरशः सत्य है कि वह जनता के आराध्यदेव थे, प्रतिमा थे। उनके वचन हजारों आदमियों के लिए नियम और कानून-से थे। पुरुषों में पुरुष-सिंह संसार से उठ गया! केशरी की घोर गर्जना विलीन हो गई।

देशवासियों पर उनका इतना प्रभाव होने का क्या कारण था? मैं समझता हूं, इस प्रश्न का उत्तर बड़ा ही सहज है। उनकी स्वदेश-भक्ति ही उनकी इंद्रियवृत्ति थी। वह स्वदेश-प्रेम के सिवा दूसरा धर्म नहीं जानते थे।

जन्म से ही वह प्रजासत्तावादी थे। बहुमत की आज्ञा पर इतना अधिक विश्वास करते थे कि मुझे उससे भयभीत होना पड़ता था। पर यही वह बात है जिससे जनता पर उनका इतना अधिक प्रभाव था। स्वदेश के लिए वह जिस इच्छा-शक्ति से काम लेते थे वह बड़ी ही प्रबल थी। उनका जीवन वह ग्रंथ है जिसे खोलने की भी जरूरत नहीं, वह खुला हुआ ग्रंथ है। उनका खाना-पीना और पहनावा बिल्कुल साधारण था। उनका व्यक्तिगत जीवन बड़ा ही निर्मल और बेदाग था। उन्होंने अपनी आश्चर्य-जनक बुद्धि-शक्ति को स्वदेश को अर्पण कर दिया था। जितनी स्थिरता और दृढ़ता के साथ लोकमान्य ने स्वराज्य की शुभ वार्ता का उपदेश किया उतना और किसीने नहीं किया। इसी कारण स्वदेशवासी उनपर अटूट विश्वास रखते थे। साहस ने कभी उनका साथ नहीं छोड़ा। उनकी आशावादिता अदम्य थी। उनको आशा थी कि जीवनकाल में ही मैं संपूर्ण रूप से स्वराज्य स्थापित हुआ देख

सकूंगा। यदि वह इसे नहीं देख सके तो उनका दोष नहीं है। उन्होंने निस्संदेह स्वराज्य-प्राप्ति की अवधि बहुत कम कर दी है।

मैं अंग्रेजों को ऐसी धारणा बनाने से मना करता हूं कि लोकमान्य अंग्रेजों के शत्रु थे, या अधिकारी वर्ग या अंग्रेजी राज्य से घृणा करते थे ।

कलकत्ता-कांग्रेस के समय हिंदी के राष्ट्र-भाषा होने के संबंध में उन्होंने जो कहा था, उसे सुनने का अवसर मुझे भी प्राप्त हुआ था। वह कांग्रेस-पंडाल से तुरंत ही लौटे थे। हिंदी के संबंध में उन्होंने अपने शांत भाषण में जो कहा उससे बड़ी तृप्ति हुई। भाषण में उन्होंने देशी भाषाओं पर खयाल रखने के कारण अंग्रेजों की बड़ी प्रशंसा की थी। विलायत जाने पर, यद्यपि उन्हें अंग्रेज जूररों के विषय में बुरा ही अनुभव हुआ तथापि उनका ब्रिटिश प्रजा-सत्ता में बड़ा ही दृढ़ विश्वास हो गया। उन्होंने यहांतक कहा था कि पंजाब के अत्याचारों का चित्र 'सिनेमेटोग्राफ' यंत्र द्वारा ब्रिटिश प्रजासत्तावादियों को दिखाना चाहिए। मैंने यहां इस बात का उल्लेख इसलिए नहीं किया कि मैं भी ब्रिटिश प्रजासत्ता पर विश्वास रखता हूं (जो कि मैं नहीं रखता), पर यह दिखाने के लिए कि वह अंग्रेज-जाति के प्रति घृणा का भाव नहीं रखते थे। पर वह भारत और साम्राज्य की अवस्था को इस पिछड़ी अवस्था में न तो रखना ही चाहते थे और न रख सकते थे।

वह चाहते थे कि शीघ्र ही भारत से समानता का भाव रखा जाय और इसे वह देश का जन्मसिद्ध अधिकार समझते थे। भारत की स्वतंत्रता के लिए उन्होंने जो लड़ाई की उसमें सरकार को छोड़ नहीं दिया। स्वतंत्रता के इस युद्ध में उन्होंने न तो किसीकी मुरव्वत की और न किसीकी प्रतीक्षा ही की। मुझे आशा है, अंग्रेज लोग उस महापुरुष को पहचानेंगे, जिनकी भारत पूजा करता था।

भारत की भावी संतति के हृदय में भी यही भाव बना रहेगा कि लोकमान्य नवीन भारत के बनानेवाले थे। वे तिलक महा-

राज का स्मरण यह कह कर करेंगे कि एक पुरुष था, जो हमारे लिए ही जन्मा और हमारे लिए ही मरा। ऐसे महापुरुष को मरना कहना ईश्वर की निंदा करना है। उनका स्थायी तत्व सदा के लिए हम लोगों में व्याप्त हो गया। आओ, हम भारत के एकमात्र लोकमान्य का अविनाशी स्मारक अपने जीवन में उनके साहस, उनकी सरलता, उनके आश्चर्यजनक उद्योग और उनकी स्वदेश-भक्ति को सीखकर बनावें। ईश्वर उनकी आत्मा को शांति प्रदान करे।[1]

... ...

लोकमान्य तो एक ही थे। लोगों ने तिलक महाराज को जो पदवी, जो उच्चस्थान, दिया था वह राजाओं के दिये खिताबों से लाख-गुना कीमती था। देश ने आज यह बात सिद्ध कर दिखाई है। यह कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी कि सारी बंबई लोकमान्य को पहुंचाने के लिए उलट पड़ी थी।[2]

उनके आखिरी दिनों में जो दृश्य मैंने अपनी आंखों से देखा वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। लोगों के उस अगाध प्रेम का वर्णन करना असंभव है।

फ्रांस में कहावत है कि 'राजा मर गये, राजा चिरंजीव रहें।' यह विचार इंगलैंड आदि सारे देशों में प्रचलित है और जब राजा की मृत्यु होती है तब यह कहावत कही जाती है। उसका भावार्थ यह है कि राजा तो मरता ही नहीं। राजतंत्र एक मिनिट भी बंद नहीं रहता।

उसी प्रकार तिलक महाराज भी मर नहीं सकते, न मरे ही। बंबई की जनता ने यह दिखला दिया कि वह जीते हैं और बहुत समय तक जीयेंगे। उनके सगे-संबंधियों को भले ही दुःख हुआ हो, उन्होंने भले ही आंखों से मोती टपकाये हों, परंतु दूसरे लोग तो उत्सव मनाने के लिए आये थे। बाजे और भजन लोगों को चेतावनी दे

---

[1] यंग इंडिया ४-८-२०

[2] यहां संकेत मृत्यु के समय से है।

रहे थे कि लोकमान्य मरे नहीं हैं। 'लोकमान्य तिलक महाराज की जय' ध्वनि से आकाश गूंज उठता थी। उस समय लोग इस बात को भूल गये थे कि हम तो तिलक महाराज के देह के दाह-कर्म के लिए आये हैं।

शनिवार की रात को जब मैंने उनके स्वर्गवास की खबर सुनी तब मेरा चित्त व्याकुल हो रहा था, पर जयघोष सुनकर मेरी बेचैनी जाती रही। मेरी भी यही धारणा हुई कि तिलक महाराज जीवित हैं। उनका क्षण-भंगुर देह छूट गया है, पर उनकी अमर आत्मा तो लाखों लोगों के हृदय में विराजमान है।

इस जमाने में किसी भी लोकनायक को ऐसी मृत्यु का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था। दादाभाई गये, फिरोजशाह गये, गोखले भी चले गये। सबके साथ हजारों लोग श्मशान तक गये थे; पर तिलक महाराज ने तो हद कर दी। उनके पीछे तो सारी दुनिया गई। रविवार को बंबई बावली हो गई थी।

यह कैसा चमत्कार! संसार में चमत्कार नाम की कोई वस्तु ही नहीं। अथवा यों कहें कि जगत स्वयं ही एक चमत्कृति है। बिना कारण के कोई काम नहीं होता। इस सिद्धांत में कोई अपवाद नहीं हो सकता। लोकमान्य का हिंदुस्तान पर असीम प्रेम था। इसी कारण लोक-प्रेम की भी मर्यादा नहीं रह गई थी। स्वराज्य के मंत्र का जितना जप उन्होंने किया है उतना दूसरा किसीने नहीं किया। जिस समय दूसरे लोग यह मानते थे कि हां, अब भारत स्वराज्य के योग्य होगा, उस समय लोकमान्य सच्चे दिल से मानते थे कि भारत आज ही तैयार है। लोकमान्य की इस धारणा ने लोगों के मन को हर लिया था। ऐसा मानकर वह बैठे नहीं रहे, बल्कि जिंदगी भर उसके अनुसार काम किया। उससे जनता में नवीन चैतन्य, नया जोश पैदा हुआ। उन्होंने स्वराज्य प्राप्त करने की अपनी अधीरता का स्वाद लोगों को चखाया और ज्यों-ज्यों जनता को उसका स्वाद मालूम होने लगा त्यों-त्यों वह उनकी तरफ खिचती गई।

उनपर अनेक तरह की आफतें आईं, तरह-तरह के कष्ट उन्हें सहने पड़े, तो भी उन्होंने उस मंत्र का अनुष्ठान नहीं छोड़ा। इस तरह वह कठिन परीक्षाओं में भी पास हुए। इससे जनता ने उन्हें अपने हृदय का सम्राट् बनाया और उनका वचन उसके लिए कानून की तरह मान्य हो गया।

देह के नष्ट हो जाने से ऐसा महान् जीवन नष्ट नहीं होता, बल्कि देह-पात के बाद से तो वह शुरू होता है।

जिसे हम पूजनीय मानते हैं उसकी सच्ची पूजा तो उसके सद्गुणों का अनुकरण करना ही है। लोकमान्य अत्यंत सादगी के साथ रहते थे। उनके स्मरण के लिए हमें भी अपना जीवन सादा बनाना चाहिए। हमें उस सीमा तक वस्तुओं का त्याग करना चाहिए, जिस तक के लिए हमारा मन गवाही देता हो। अपने निश्चित कार्य को करने से कभी पीछे नही हटना चाहिए। वह विचारशील थे। हमें भी विचार करके ही बोलना और काम करना चाहिए। वह विद्वान् थे, अपनी मातृभाषा और संस्कृति पर उनका खूब प्रभुत्व था। हमें भी उनकी तरह विद्वान् होने का निश्चय करना चाहिए। व्यवहार में विदेशी भाषा का त्याग करके मातृ-भाषा का काफी ज्ञान प्राप्त करना और उसीके द्वारा अपने विचारों को प्रकट करने का अभ्यास करना चाहिए। हमें संस्कृत भाषा का अध्ययन करके अपने धर्म-शास्त्रों में छिपे धर्म-रहस्यों को प्रकट करना चाहिए। वह स्वदेशी के प्रेमी थे। हमें भी स्वदेशी का अर्थ समझकर उसका व्यवहार करना चाहिए। उनके हृदय में अपने देश के प्रति अथाह प्रेम था। हम भी अपने हृदय में ऐसा प्रेम उदय करें और दिन-प्रतिदिन देश-सेवा में अधिकाधिक तत्पर हों। इसी रीति से उनकी पूजा हो सकती है। जिनसे इतना न हो सके वे उनकी यादगार के लिए जितना हो सके धन दें और वह स्वराज्य के कार्य में खर्च किया जाय।

लोकमान्य वर्त्तमान राज्य-मंडल के कट्टर शत्रु थे। पर इससे यह न समझना चाहिए कि वह अंग्रेजों से द्वेष करते थे। जो

लोग ऐसा समझते हैं वे भूल करते हैं। उन्हीं के श्रीमुख से मैंने कई बार अंग्रेजों की प्रशंसा सुनी है। वह अंग्रेजी राज्य के संबंध को भी अनिष्ट नहीं मानते थे। वह तो सिर्फ अपनेको अंग्रेजों के बराबर मनवाना चाहते थे। किसीका भी गुलाम बनकर रहना उन्हें पसंद न था।

"शठं प्रति शाठ्यम्" तिलक महाराज का जीवन-मंत्र नहीं था। अगर ऐसा होता तो वह इतनी लोकप्रियता प्राप्त न कर सकते। मेरी जान में संसार-भर में ऐसा भी एक उदाहरण नहीं है, जिससे किसी मनुष्य ने इस सिद्धांत पर अपना जीवन-निर्माण किया हो और फिर भी वह लोकमान्य बन सका हो। यह सच है कि इस बारे में जितना गहरा मैं पैठता हूं, वह नहीं पैठते थे। हम शठ के प्रति शाठ्य का कदापि उपयोग कर ही नहीं सकते। 'गीता-रहस्य' में एक-दो स्थानों में, सिर्फ एक-ही दो स्थानों में, इस बात का थोड़ा समर्थन जरूर मिलता है। लोकमान्य मानते थे कि राष्ट्र-हित के लिए अगर कभी शाठ्य से, दूसरे शब्दों में 'जैसे को तैसा' सिद्धांत से, काम लेना पड़े तो ले सकते हैं। साथ ही वह यह भी मानते तो थे ही कि शठ के सामने भी सत्य का प्रयोग करना अच्छा है, यही सत्य सिद्धांत है। मगर इस संबंध में वह कहा करते थे कि साधु लोग ही इस सिद्धांत पर अमल कर सकते हैं। तिलक महा-राज की व्याख्या के मुताबिक साधु लोगों से अर्थ वैरागियों का नहीं, बल्कि उन लोगों से होता है जो दुनिया से अलिप्त रहते हैं, दुनियादारी के कामों में भाग नहीं लेते। इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि अगर कोई दुनिया में रहकर इस सिद्धांत का पालन करे तो अनुचित होगा—हां, वह न कर सके यह दूसरी बात है। वह मानते थे कि शाठ्य का उपयोग करने का उसे अधिकार है।

लेकिन ऐसे महान् पुरुष के जीवन का मूल्य ठहराने का हमें कोई अधिकार हो तो हम विवादास्पद बातों से उसका मूल्य न

---

[१] हिंदी नवजीवन, ६-८-२२

ठहरावें। लोकमान्य का जीवन भारत के लिए, समस्त विश्व के लिए, एक बहुमूल्य विरासत है। उसकी पूरी कीमत तो भविष्य में निश्चित होगी। इतिहास ही उसकी कीमत का अनुमान लगावेगा, वही लगा सकता है। जीवित मनुष्य का ठीक-ठीक मूल्य, उसका सच्चा महत्व, उसके समकालीन कभी ठहरा ही नहीं सकते। उनसे कुछ-न-कुछ पक्षपात तो हो ही जाता है, क्योंकि रागद्वेष-पूर्ण लोग ही इस काम के कर्ता भी होते हैं। सच पूछा जाय तो इतिहासकार भी राग-द्वेष-रहित नहीं पाये जाते। समकालीन व्यक्ति में विशेष पक्षपात होने की संभावना रहती है। लोकमान्य के महान् जीवन का उपयोग तो यह है कि हम उनके जीवन के शाश्वत सिद्धांतों का सदा स्मरण और अनुकरण करें।

तिलक महाराज का देश-प्रेम अटल था। साथ ही उनमें तीक्ष्ण न्याय-वृत्ति भी थी। इस गुण का परिचय मुझे अनायास मिला था। १९१७ की कलकत्ता-महासभा के दिनों में, हिंदी साहित्य सम्मेलन की सभा में भी वह आये थे। महासभा के काम से उन्हें फुर्सत तो कैसे हो सकती थी? फिर भी वह आये और भाषण करके चले गये। मैंने वहीं देखा कि राष्ट्र-भाषा हिंदी के प्रति उनमें कितना प्रेम था। मगर इससे भी बढ़कर जो बात मैंने उनमें देखी, वह थी अंग्रेजों के प्रति की उनकी न्याय-वृत्ति। उन्होंन अपना भाषण ही यों शुरू किया था—"मैं अंग्रेजी शासन की खूब निंदा करता हूं, फिर भी अंग्रेज विद्वानों ने हमारी भाषा की जो सेवा की है, उसे हम भुला नहीं सकते।" उनका आधा भाषण इन्हीं बातों से भरा था। आखिर उन्होंने कहा था कि अगर हमें राष्ट्र-भाषा के क्षेत्र को जीतना और उसकी वृद्धि करना हो तो हमें भी अंग्रेज विद्वानों की भांति ही परिश्रम और अभ्यास करना चाहिए। अपनी लिपि की रक्षा और व्याकरण की व्यवस्था के लिए हम एक बड़ी हद तक अंग्रेज विद्वानों के आभारी हैं। जो पादरी आरंभ में आये थे, उनमें पर-भाषा के लिए प्रेम था। गुजराती में टेलर-कृत व्याकरण कोई साधारण वस्तु नहीं है। लोकमान्य ने इस बात

का विचार भी नहीं किया कि अंग्रेजों की स्तुति करने से मेरी लोक-प्रियता घटेगी। लोगों का तो यही विश्वास था कि वह अंग्रेजों की निंदा ही कर सकते हैं।

तिलक महाराज में जो त्याग-वृत्ति थी, उसका सौवां या हजारवां भाग की हम अपने में नहीं बता सकते। और उनकी सादगी? उनके कमरे में न तो किसी तरह का फर्नीचर होता था, न कोई खास सजावट। अपरिचित आदमी तो खयाल भी नहीं कर सकता था कि वह किसी महान् पुरुष का निवास-स्थान है। रग-रग में भिदी हुई उनकी इस सादगी का हम अनुकरण करें तो कैसा हो? उनका धैर्य तो अद्भुत था ही। अपने कर्तव्य में वह सदा अटल रहते और उसे कभी भूलते ही न थे। धर्मपत्नी की मृत्यु का संवाद पाने पर भी उनकी कलम चलती ही रही।... क्या हम तिलक महाराज के जीवन का एक भी ऐसा क्षण बतला सकते हैं, जो भोग-विलास में बीता हो? उनमें जबर्दस्त सहिष्णुता थी। यानी वह चाहे जैसे उद्दंड-से-उद्दंड आदमी से भी काम करवा लेते थे। लोकनायक में यह शक्ति होनी चाहिए। इससे कोई हानि नहीं होती। अगर हम संकुचित हृदय बन जायं और सोच लें कि फलां आदमी से काम लेंगे ही नहीं, तो या तो हमें जंगल में जाकर बस जाना चाहिए, या घर बैठे-बैठे गृहस्थ का जीवन बिताना चाहिए। इसमें शर्त यही है कि स्वयं अलिप्त रह सकें।

मुंह से तिलक महाराज का बखान करके ही हम चुप न हो बठें। काम, काम और काम ही हमारा जीवन-सूत्र होना चाहिए। जब कि हम स्वराज्य-यज्ञ को चालू रखना चाहते हैं, हमें चाहिए कि हम निकम्मे साहित्य का पढ़ना बंद कर दें, निरर्थक बातें करना छोड़ दें और अपने जीवन का एक-एक क्षण स्वराज्य के काम में बिताने लगें। आप पूछेंगे कि क्या पढ़ाई छोड़कर यह काम करें? १९२१ में भी विद्यार्थियों के साथ मेरा यही झगड़ा था कि तिलक महाराज ने क्या किया था? उन्होंने जो बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे, वे बाहर रहकर नहीं, जेल में रहकर लिखे थे। 'गीता-रहस्य' और

'आर्क्टिक होम' वह जेल में ही लिख सके थे। बड़े-बड़े मौलिक ग्रंथ लिखने की शक्ति होते हुए भी उन्होंने देश के लिए उसका बलिदान किया था। उन्होंनें सोचा, "घर के चारों ओर आग भभक उठी है। इसे जितनी बुझा सकूं, उतनी तो बुझाऊं।" उन्होंने अगर हजार घड़े पानी से वह बुझाई हो तो हम एक ही घड़ा डालें, मगर डालें तो सही। पढ़ाई आदि आवश्यक होते हुए भी गौण बातें हैं। अगर स्वराज्य के लिए इनका उपयोग होता हो तो करना चाहिए, अन्यथा इन्हें तिलांजलि देनी चाहिए। इससे न हमारा नुकसान है और न संसार का।

तिलक महाराज अपने जीवन द्वारा इसका प्रत्यक्ष उदाहरण छोड़ गये हैं। जिनके जीवन में से इतनी सारी बातें ग्रहण करने योग्य हों, जिनकी विरासत इतनी जबर्दस्त हो, उनके संबंध में उक्त प्रश्न के लिए गुंजाइश ही नहीं रहती है। हमारा धर्म तो गुणग्राही बनने का है।

आज हमें जो काम करना है, वह मुर्दार आदमियों के करने से तो हो नहीं सकता। स्वराज्य का काम कठिन है। भारत में आज एक लहर बह रही है। उसमें खिचकर हम भाषण करते हैं, धींगाधींगी मचाते हैं, तूफान खड़े करते हैं, मनमाने तौर पर संस्थाओं में घुस जाते हैं और फिर उन्हें नष्ट करते एवं धारासभाओं में जाकर भाषण करते हैं। तिलक महाराज के जीवन में ये बातें हमारे देखने में भी नहीं आतीं। उनके जीवन के जो गुण अनुकरणीय हैं, सो तो मैं ऊपर कह ही चुका हूं।[1]

---

[1] लोकमान्य की पुण्यतिथि पर गुजरात विद्यापीठ में दिया गया भाषण।

: १२ :

अब्बास तैयबजी

सबसे पहले सन् १९१५ में मैं अब्बास तैयबजी से मिला था। जहां कहीं मैं गया, तैयबजी-परिवार का कोई-न-कोई स्त्री-पुरुष मुझसे आकर जरूर मिला। ऐसा मालूम पड़ता है, मानो इस महान् और चारों तरफ फैले हुए परिवार ने यह नियम ही बना लिया था। हमारे बीच इस अटूट संबंध का खास कारण क्या था? सिवा इसके मुझे और कुछ मालूम नहीं कि जिस सुप्रतिष्ठित न्यायाधीश के कारण यह वंश प्रसिद्ध है उससे सन् १८९० में मेरी मित्रता हो गई थी, जबकि मैं दक्षिण अफ्रीका से हिंदुस्तान वापस आया था और बिल्कुल अनजान व्यक्ति था। कुछ लोगों के विचार में तो मैं संभवतः एक दुःसाहसी आदमी था, लेकिन बदरुद्दीन तैयबजी और कुछ अन्य व्यक्ति ऐसे भी थे, जिनका यह खयाल नहीं था।

मगर मुझे तो बड़ौदा के अब्बास मियां के विषय पर ही आना चाहिए। जब हम एक-दूसरे से मिलते और मैं उनके मुंह की ओर देखता तो मुझे स्व० जस्टिस बदरुद्दीन तैयबजी का स्मरण हो आता था। हमारी उस मुलाकात से हमारे बीच जन्म-भर के लिए मित्रता की गांठ बंध गई। मैंने उन्हें हरिजनों का मित्र ही नहीं; बल्कि उन्हींमें का एक पाया। बहुत दिन पहले गोधरा में, शाम को हरिजनों की बस्ती में होनेवाले एक अस्पृश्यता-विरोधी-सम्मेलन में जब मैंने उन्हें बुलाया तो दर्शकों को बड़ा आश्चर्य हुआ, लेकिन अब्बास मियां ने हरिजनों के काम में उसी उत्साह से भाग लिया, जैसे कोई कट्टर हिंदू ले सकता है। इतने पर भी वह कोई साधारण मुसलमान नहीं थे। इस्लाम के लिए उन्होंने मुक्तहस्त से दान दिया और कई मुस्लिम संस्थाओं को वह सहायता देते रहते थे। मगर हरिजनों को मुसलमान बनाने जैसा कोई विचार उनके मन में नहीं था। उनके इस्लाम में भूमंडल के तमाम महान् धर्मों के

लिए गुंजाइश थी। इसीलिए अस्पृश्यता-विरोधी-आंदोलन में वह हिंदुओं की ही तरह उत्साहपूर्वक भाग लेते थे, और मैं जानता हूं कि जबतक वह जिंदा रहे तबतक उनका यह उत्साह बराबर वैसा ही बना रहा।

असल बात यह है कि उन्होंने आधे मन से कभी कोई काम नहीं किया। अब्बास तैयबजी अपने मन में कोई बात छिपा कर नहीं रखते थे। पंजाब की पुकार का उन्होंने तत्क्षण जवाब दिया। उनकी आयु के और ऐसे व्यक्ति के लिए, जिसने जीवन में कभी कोई मुसीबत नहीं झेली, जेलों की सख्तियां बर्दाश्त करना कोई मजाक नहीं था। लेकिन उनकी श्रद्धा ने हरेक कठिनाई को विजय कर लिया। हँसते-हँसाते खेड़ा के किसानों की तरह ही सादा जीवन व्यतीत करते, उन्हींका-सा खाना खाते और सब मौसमों में उन्हींकी रद्दी-सद्दी गाड़ियों में सफर करने की क्षमता से अनेक नौजवानों को उनके सामने शर्मिंदा होना पड़ा। ऐसी असुविधाओं के बारे में, जिन्हें कि बचाया जा सकता हो, मैंने उनको कभी शिकायत करते हुए नहीं सुना। "क्यों ?" का प्रश्न करना उनका काम नहीं था, वह तो काम करने और अपनेको झोंक देने की बात जानते थे। हालांकि एक समय चीफ जज की हैसियत से उन्हें किसीको मृत्युदण्ड देने और अपनी आज्ञा-पालन कराने की सत्ता प्राप्त थी, फिर भी बिना किसी उज्र के अनुशासन पालन करने की आश्चर्यजनक क्षमता उन्होंने प्रदर्शित की। वह मनुष्य-जाति के विरले सेवकों में से थे। भारत-सेवक भी वह इसीलिए थे कि वह मनुष्य-जाति के सेवक थे। ईश्वर को वह दरिद्र-नारायण के रूप में मानते थे। उनका विश्वास था कि परमेश्वर दीन-दुखियों के बीच ही रहता है। अब्बास मियां का शरीर यद्यपि इस समय कब्र में विश्राम कर रहा है, पर वह मरे नहीं हैं। उनका जीवन हम सबके लिए एक स्फूर्ति है, एक प्रेरणा है।[१]

[१] हरिजन सेवक, २०-८-३६

: १३ :

देशबंधु चित्तरंजन दास

देशबंधु दास एक महान् पुरुष थे। मैं गत छः वर्षों से उन्हें जानता हूं। कुछ ही दिन पहले जब मैं दार्जिलिंग से उनसे विदा हुआ था तब मैंने एक मित्र से कहा था कि जितनी ही घनिष्ठता उनसे बढ़ती है उतना ही उनके प्रति मेरा प्रेम बढ़ता जाता है। मैंने दार्जिलिंग में देखा कि उनके मन में भारत की भलाई के सिवा और कोई विचार न था। वह भारत की स्वाधीनता का ही सपना देखते थे, उसीका विचार करते थे और उसीकी बातचीत करते थे, और कुछ नहीं। दार्जिलिंग से विदा होते समय भी उन्होंने मुझसे कहा था कि आप बिछुड़े हुए दलों को एक करने के लिए बंगाल में अधिक समय तक ठहरिये, ताकि सब लोगों की शक्ति एक कार्य के लिए युक्त हो जाय। मेरी बंगाल-यात्रा में उनसे मत-भेद रखनेवालों ने भी बिना हिचकिचाहट के इस बात को स्वीकार किया है कि बंगाल में ऐसा कोई मनुष्य नहीं है, जो उनका स्थान ले सके। वह निर्भीक थे, वीर थे। बंगाल में नवयुवकों के प्रति उनका निस्सीम स्नेह था। किसी नवयुवक ने मुझसे ऐसा नहीं कहा कि देशबंधु से सहायता मांगने पर कभी किसीकी प्रार्थना खाली गई। उन्होंने लाखों रुपया पैदा किया और लाखों रुपया बंगाल के नवयुवकों में बांट दिया। उनका त्याग अनुपम था, और उनकी महान् बुद्धिमत्ता और राजनीतिज्ञता की बात मैं क्या कह सकता हूं! दार्जिलिंग में उन्होंने मुझसे अनेक बार कहा कि भारत की स्वाधीनता अहिंसा और सत्य पर निर्भर है। . . .

देशबंधु ने पटना और दार्जिलिंग में चरखा कातने की कोशिश की थी। मैंने उनको चरखा का पाठ पढ़ाया था और उन्होंने मुझसे वादा किया था कि मैं कातना सीखने की कोशिश करूंगा और जबतक शरीर रहेगा तबतक कातूंगा। उन्होंने अपने दार्जिलिंग

के निवास-स्थान को 'चरखा-क्लब' बना दिया था। उनकी नेक पत्नी ने वादा किया कि बीमारी की हालत छोड़कर मैं रोज आध घंटे तक स्वयं चरखा चलाऊंगी और उनकी लड़की, बहन और बहन की लड़की तो बराबर ही चरखा कातती थीं।

देशबंधु मुझसे अक्सर कहा करते—"मैं समझता हूं कि धारा सभा में जाना जरूरी है मगर चरखा कातना भी उतना ही जरूरी है। न सिर्फ जरूरी है, बल्कि बिना चरखे के धारा सभा के काम को कारगर बनाना असंभव है।" उन्होंने जबसे खादी की पोशाक पहनना शुरू किया तब से मरने के दिन तक पहनते आये।

मेरे लिए यह कहने की बात नहीं है कि उन्होंने हिंदू-मुसलमानों में मेल करने के लिए कितना बड़ा काम किया था। अछूतों से वह कितना प्रेम रखते थे, इसके विषय में सिर्फ वही एक बात कहूंगा जो मैंने बारीसाल में कल रात को एक नाम-शूद्र नेता से सुनी थी। उस नेता ने कहा—"मुझे पहली आर्थिक सहायता देशबंधु ने दी और पीछे डाक्टर राय ने।" देशबंधु देश-सेवकों में एक रत्न थे। उनकी सेवा और त्याग बेजोड़ था। ईश्वर करें, उनकी याद हमें सदा बनी रहे और उनका आदर्श हमारे सदुद्योग में सार्थक हो। हमारा मार्ग लंबा और दुर्गम है। हमको उसमें आत्म-निर्भरता के सिवा और कोई सहारा नहीं देगा। स्वावलंबन ही देशबंधु का मुख्य सूत्र था। वह हमें सदा अनुप्राणित करता रहेगा।[1]

••• ••• •••

मनुष्यों में से एक दिग्गज पुरुष उठ गया। . . . . १९१९ में, पंजाब महासभा जांच-समिति के सिलसिले में उनसे पहले-पहल मेरा प्रत्यक्ष परिचय हुआ। मैं उनके प्रति संशय और भय के भाव लेकर उनसे मिलने गया था। दूर से ही मैंने उनकी धुआंधार वकालत और उससे भी अधिक धुआंधार वक्तृत्व का हाल सुना था। वह अपनी मोटरकार लेकर सपत्नीक, सपरिवार आये थे और

[1] हिंदी नवजीवन, २५-६-२५

एक राजा की शान-बान के साथ रहते थे। मेरा पहला अनुभव तो कुछ अच्छा न रहा। हम हंटर-कमिटी की तहकीकात में गवाहियां दिलाने के प्रश्न पर विचार करने के लिए बैठे थे। मैंने उनके अंदर तमाम कानूनी बारीकियों को तथा गवाह को जिरह में तोड़कर फौजी कानून के राज्य की, बहुतेरी शरारतों की कलई खोलने की, वकीलोचित तीव्र इच्छा देखी। मेरा प्रयोजन कुछ भिन्न था। मैंने अपना कथन उन्हें सुनाया। दूसरी मुलाकात में मेरे दिल को तसल्ली हुई और मेरा तमाम डर दूर हो गया। उनसे मैंने जो कुछ कहा उसको उन्होंने उत्सुकता के साथ सुना। भारतवर्ष में पहली ही बार बहुतेरे देशसेवकों के घनिष्ठ समागम में आने का अवसर मुझे मिला था। तबतक मैंने महासभा के किसी काम में वैसे कोई हिस्सा न लिया था। वह मुझे जानते थे– एक दक्षिण अफ्रीका का योद्धा है। पर मेरे तमाम साथियों ने मुझे अपने घर का-सा बना लिया, और देश के इस विख्यात सेवक का नंबर इसमें सबसे आगे था। मैं उस समिति का अध्यक्ष माना जाता था। "जिन बातों में हमारा मतभेद होगा उनमें मैं अपना कथन आपके सामने उपस्थित कर दूंगा। फिर जो फैसला आप करेंगे उसे मैं मान लूंगा। इसका यकीन मैं आपको दिलाता हूं।" उनके इस स्वयंस्फूर्त आश्वासन के पहले ही हममें इतनी घनिष्ठता हो गई थी कि मुझे अपने मन का संशय उनपर प्रकट करने का साहस हो गया। फिर जब उनकी ओर से यह आश्वासन मिल गया तब मुझे ऐसे मित्रनिष्ठ साथी पर अभिमान तो हुआ, किंतु साथ ही कुछ संकोच भी मालूम हुआ, क्योंकि मैं जानता था कि मैं तो भारत की राजनीति में एक नौसिखिया था और शायद ही ऐसे पूर्ण विश्वास का अधिकारी था। परंतु तंत्र-निष्ठा छोटे-बड़े के भेद को नहीं जानती। वह राजा जो कि तंत्र-निष्ठा के मूल्य को जानता है, अपने सेवक की भी बात, उस मामले में मानता है, जिसका पूरा भार उसपर छोड़ देता है। इस जगह मेरा स्थान एक सेवक के जैसा था। और में इस बात का उल्लेख कृतज्ञता और अभिमान के साथ करता

हूं कि मुझे जितने मित्र-निष्ठ साथी वहां मिले थे, उनमें कोई इतना मित्र-निष्ठ न था जितना चित्तरंजन दास थे।

अमृतसर-धारा-सभा में तंत्र-निष्ठ का अधिकार मुझे नहीं मिल सकता था। वहां हम परस्पर योद्धा थे; हर शख्स को अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार राष्ट्र-हित-संबंधी अपने ट्रस्ट की रक्षा करनी थी, जहां तर्क अथवा अपने पक्ष की आवश्यकता के अलावा किसीकी बात मान लेने का सवाल न था। महासभा के मंच पर पहली लड़ाई लड़ना मेरे लिए एक पूरे आनंद और तृप्ति का विषय था। बड़े सभ्य, उसी तरह न झुकनेवाले महान् मालवीयजी बलाबल को सामने रखने की कोशिश कर रहे थे। कभी एक के पास जाते थे,कभी दूसरे के पास। महासभा के अध्यक्ष पंडित मोतीलालजी ने सोचा कि खेल खतम हो गया। मेरी तो लोकमान्य और देशबंधु से खासी जम रही थी। सुधार-संबंधी प्रस्ताव का एक ही सूत्र उन दोनों ने बना रखा था। हम एक-दूसरे को समझा देना चाहते थे, पर कोई किसीका कायल न होता था। बहुतों ने तो सोचा था कि अब कोई चारा नहीं था और इसका अंत बुरा रहेगा। अलीभाई, जिन्हें मैं जानता था और चाहता था, पर आज की तरह जिनसे मेरा परिचय न था, देशबंधु के प्रस्ताव के पक्ष में मुझे समझाने लगे। मुहम्मद अली ने अपनी लुभावनी नम्रता से कहा, "जांच-समिति में आपने जो महान् कार्य किया है, उसे नष्ट न कीजिये।" पर वह मुझे न पटा सके। तब जयरामदास वह ठंडे दिमागवाला सिंधी आया, और उसने एक चिट में समझौते की सूचना और उसकी हिमायत लिखकर मेरे पास पहुंचाई। मैं शायद ही उन्हें जानता था। पर उनकी आंखों और चेहरे में कोई ऐसी बात थी जिसने मुझे लुभा लिया। मैंने उस सूचना को पढ़ा। वह अच्छी थी। मैंने उसे देशबंधु को दिया। उन्होंने जवाब दिया, "ठीक है, बशर्तेकि हमारे पक्ष के लोग उसे मान लें।" यहां ध्यान दीजिये उनकी घनिष्ठता पर। अपने पक्ष के लोगों का समाधान किये बिना वह नहीं रहना चाहते थे। यही एक रहस्य है लोगों के

हृदय पर उनके आश्चर्यजनक अधिकार का। वह सब लोगों को पसंद हुई। लोकमान्य अपनी गरुड़ के सदृश तीखी आंखों से वहां जो कुछ हो रहा था सब देख रहे थे। व्याख्यान-मंच से पंडित मालवीयजी की गंगा के सदृश वाग्धारा बह रही थी। उनकी एक आंख सभामंच की ओर देख रही थी जहांकि हम साधारण लोग बैठकर राष्ट्र के भाग्य का निर्णय कर रहे थे। लोकमान्य ने कहा—"मेरे देखने की जरूरत नहीं। यदि दास ने उसे पसंद कर लिया है तो मेरे लिए वह काफी है।" मालवीयजी ने उसे वहां से सुना, कागज मेरे हाथ से छीन लिया और घोर करतल ध्वनि से घोषित कर दिया कि समझौता हो गया। मैंने इस घटना का सविस्तर वर्णन इसलिए किया है कि उसमें देशबंधु की महत्ता और निर्विवाद नेतृत्व, कार्य-विषयक दृढ़ता, निर्णय-संबंधी समझदारी और पक्ष-निष्ठा के कारणों का संग्रह आ जाता ह।

अब और आगे बढ़िये। हम जुहू, अहमदाबाद, दिल्ली और दार्जिलिंग पहुंचते हैं। जुहू में वे और पंडित मोतीलालजी मुझे अपने पक्ष में मिलाने के लिए आये। वह दोनों जोड़वां भाई हो गये थे। हमारे दृष्टि-बिंदु अलग-अलग थे, पर उन्हें यह गवारा न होता था कि मेरे साथ मतभेद रहे। यदि उनके बस का होता तो वे ५० मील चले जाते जहां मै सिर्फ २५ मील चाहता, परंतु वे अपने एक अत्यंत प्रिय मित्र के सामने भी एक इंच न झुकना चाहते थे, जहां कि देशहित संकट में था। हमने एक प्रकार का समझौता कर लिया। हमारा मन तो न भरा, पर हम निराश न हुए। हम एक-दूसरे पर विजय प्राप्त करने के लिए तुले हुए थे। फिर हम अहमदाबाद में मिले। देशबंधु अपने पूरे रंग में थे और एक चतुर खिलाड़ी की तरह सब रंग-ढंग देखते थे। उन्होंने मुझे एक शान की शिकस्त दी। उनके जैसे मित्र के हाथों ऐसी कितनी शिकस्त मैं न खाऊंगा ! पर अफसोस ! वह शरीर अब दुनिया में नहीं रहा !

. . . . वह अक्सर आध्यात्मिकता की बातें करते थे और कहते

थे कि धर्म के विषय में आपका मेरा कोई मतभेद नहीं है। पर यद्यपि उन्होंने कहा नहीं तथापि हो सकता है कि उनका भाव यह रहा हो कि मैं इतना काव्यहीन हूं कि मुझे हमारे विश्वासों की एकात्मता नहीं दिखाई देती। मै मानता हूं कि उनका खयाल ठीक था। उन बहुमूल्य पांच दिनों में मैंने उनका हर कार्य धर्म-मय देखा और न केवल वह महान् थे, बल्कि नेक भी थे, उनकी नेकी बढ़ती जा रही थी।

जबकि क्रूर दैव ने लोकमान्य को हमसे छीन लिया तब मैं अकेला असहाय रह गया। अभी तक मेरी वह चोट गई नहीं है, क्योंकि अबतक मुझे उनके प्रिय शिष्यों की आराधना करनी पड़ती है। पर देशबंधु के वियोग ने तो मुझे और भी बुरी हालत में छोड़ दिया है।[१]

... ...

.... उनका त्याग महान् था। उनकी उदारता की सीमा न थी। उनकी मुट्ठी सदा सबके लिए खुली रहती थी। दान देने में वह कभी आगा-पीछा न सोचते थे। उस दिन मैंने बड़े मीठे भाव से कहा, "अच्छा होता, आप दान देने में अधिक विचार से काम लेते।" उन्होंने तुरंत उत्तर दिया, "पर मैं नही समझता कि अपने अविचार के कारण मेरी कुछ हानि हुई है।" अमीर और गरीब सबके लिए उनका रसोई-घर खुला था। उनका हृदय हरेक की मुसीबत के समय उसके पास दौड़ जाता था। सारे बंगाल में ऐसा कौन नवयुवक है; जो किसी-न-किसी रूप में देशबंधु का कृतज्ञ नहीं है? उनकी बेजोड़ कानूनी प्रतिभा भी सदा गरीबों की सेवा के लिए हाजिर रहती थी। मुझे मालूम हुआ है कि उन्होंने यदि सबकी नहीं तो, बहुतेरे राजनैतिक कैदियों की पैरवी बिना एक कौड़ी लिये की है। पंजाब की जांच के समय जब वह पंजाब गये तो अपना सारा खर्च अपनी जेब से किया था। उन दिनों अपने

---

[१] हिंदी नवजीवन २५-६-२५

साथ वह एक राजा की तरह लवाजमा ले गये थे। उन्होंने मुझसे कहा था कि पंजाब की उस यात्रा में उनके पचास हजार रुपये खर्च हुए थे। जो उनके द्वार पर आता था उसीके लिए उनकी उदारता का हाथ आगे बढ़ जाता था। उनके इसी गुण ने उन्हें हजारों नवयुवकों के दिल का राजा बना दिया था।

जैसे ही वह उदार थे वैसे ही निर्भीक भी थे अमृतसर में उनकी धुआंधार वक्तृताओं ने मेरा दम खुश्क कर दिया था। वह अपने देश की मुक्ति तुरंत चाहते थे। वह एक विशेषण को हटाने या बदलने के लिए तैयार न थे इसलिए नहीं कि वह जिद्दी थे, बल्कि इसलिए कि वह अपने देश को बहुत चाहते थे। उन्होंने विशाल शक्तियों को अपने कब्जे में रखा। अपने अदम्य उत्साह और अध्यवसाय के द्वारा उन्होंने अपने दल को प्रबल बनाया। परंतु यह भीषण शक्ति-प्रवाह उनकी जान ले बैठा। उनका यह बलिदान स्वेच्छापूर्वक था। वह उच्च था, उदात्त था।[1]

कलकत्ता १८ ता० को पागल हो गया था। अंक-शास्त्री कहते हैं कि २ लाख से कम आदमी इकट्ठे न हुए थे। रास्तों पर खड़े, तार के खंभों पर चढ़े, ट्राम की छत पर खड़े, झरोखों में राह देखते हुए बैठे स्त्री-पुरुष इससे जुदा हैं।

साथ भजन-कीर्तन तो था ही। पुष्पों की वृष्टि हो रही थी। शव खुला हुआ था, परंतु उसपर फूलों के हार का पहाड़ बिछ गया था।

अर्थी के जुलूस के आगे स्वयंसेवक फुलवाड़ी लेकर चल रहे थे। उसमें फूलों से सुसज्जित चरखा था। जुलूस स्टेशन से ७-३० पर चलकर श्मशान में ३ बजे पहुंचा। ३-३० बजे अग्नि-संस्कार शुरू हुआ।

श्मशान-घाट पर भीड़ उमड़ी थी। पीछे से जो भीड़ उमड़ती थी उसे रोकना अति कठिन था और मैं समझता हूं कि यदि मुझे

---

[1] हिंदी नवजीवन २५-६-२५

हट्टे-कट्टे लोगों ने अपने कंधे पर बिठाकर इस उमड़ती हुइ भीड़ के सामने न उठा रखा होता तो भयंकर दुर्घटना हो जाती। दो सशक्त आदमियों ने मुझे अपने कंधे पर बिठा रखा और उस हालत में मैं लोगों को रोक रहा था और उनसे बैठ जाने की प्रार्थना कर रहा था। लोग जबतक मुझे देखते थे तबतक तो मानते थे, पर मैं जहां अशांति की आशंका होती उस ओर गया कि मेरी पीठ फिरते ही लोग तुरंत उठ खड़े हो जाते थे। सब लोग दीवाने हो गये थे। हजारों आंखें रथी की ओर लगी हुई थीं। जब दाहकर्म शुरू हुआ तब लोग धीरज खो बैठे। सब बरबस खड़े हो गये और चिता की ओर खिंच पड़े। यदि एक भी क्षण का विलंब होता तो सबके चिता पर गिर पड़ने का अंदेशा था। अब क्या करें ? मैंने लोगों से कहा, "अब काम पूरा हुआ। सब अपने-अपने घर जावें।" और मुझे उठानेवाले भाइयों से कहा, "अब मुझे इस भीड़ से हटा ले चलो।" लोगों को मैं पुकार-पुकारकर और इशारे से कहता चला कि मेरे पीछे आओ। इसका असर बहुत अच्छा हुआ, वह हजारों की भीड़ वापस लौटी और दुर्घटना होते-होते बची। चिता चंदन की लकड़ी की बनाई गई थी।

लोग ऐसे मालूम होते थे मानों वन-भोज को आये हों। गंभीरता तो सबके चेहरे पर थी, पर ऐसा नहीं मालूम होता था कि वे शोक-भार से दब गये हैं। कुटुंम्बियों का और मेरा शोक स्वार्थ-पूर्ण मालूम होता था। हमारे तत्व-ज्ञान का अंत आ गया, लोगों का कायम रहा, क्योंकि वे तटस्थ थे। उनके अंदर सम्मान का भाव तो पूरा-पूरा था। उनकी पूजा निःस्वार्थ थी। वे तो भारत-पुत्र को, अपने बंधु को, प्रमाणपत्र देने के लिए आये थे। वे अपनी आंखों से और चेष्टा से ऐसा कहते हुए दिखाई देते थे, "तुमने बड़ा काम किया, तुम्हारे जैसे हजारों हों!"

देशबंधु जैसे भव्य थे वैसे ही भले थे। दार्जिलिंग में इसका बड़ा अनुभव मुझे हुआ। उन्होंने धर्म-संबंधी बातें कीं। जिनकी छाप उनके दिल पर गहरी बैठी, उनकी बातें कीं। वह धर्म का अनु-

भव-ज्ञान प्राप्त करने के लिए उत्सुक थे। "दूसरे देश में जो कुछ हो, पर इस देश का उद्धार तो शांतिमार्ग से ही हो सकता है। मैं यहां के नवयुवकों को दिखला दूंगा कि हम शांति के रास्ते स्वराज्य प्राप्त कर सकते हैं।" "यदि हम भले हो जायंगे तो अंग्रेजों को भला बना लेंगे।" "इस अंधकार और दंभ में मुझे सत्य के सिवा दूसरा कोई रास्ता नहीं दिखाई देता। दूसरे की हमें आवश्यकता भी नहीं।" "मैं तमाम दलों में मेल कराना चाहता हूं। बाधा सिर्फ इतनी ही है कि हमारे लोग भीरु हैं। उनको एकत्र करने के प्रयत्न में होता क्या है कि हमें भीरु बनना पड़ता है। तुम जरूर सबको मिलाने की कोशिश करना और मिलना, पत्र-संपादकों को समझाना कि मेरी और स्वराज्य-दल की ख्वामख्वा निंदा करने से क्या लाभ ? मैंने यदि भूल की हो तो मुझे बतावें। मैं यदि उन्हें संतुष्ट न करूं तो फिर शौक से पेट भर के मेरी निंदा करें।" "तुम्हारे चरखे का रहस्य मैं दिन-दिन अधिक समझता जाता हूं। मेरा कंधा यदि दर्द न करता हो और इसमें मेरी गति कुंठित न हो तो मैं तुरंत सीख लूं। एक बार सीखने पर नियमपूर्वक कातने में मेरा जी न ऊबेगा। पर सीखते हुए जी उकता उठता है। देखो न, तार टूटते ही जाते हैं।" "पर आप ऐसा किस तरह कह सकते हैं ? स्वराज्य के लिए आप क्या नहीं कर सकते।" "हां-हां, यह तो ठीक ही है। मैं कहां सीखने से नाहीं करता हूं ? मैं तो अपनी कठिनाई बताता हूं। पूछो तो वासंतीदेवी से कि ऐसे काम में मैं कितना मंदबुद्धि हूं ?" वासंतीदेवी ने उनकी मदद की, "ये सच कहते हैं। अपना कलमदान खोलना हो तो ताला लगाने मुझे आना पड़ता है।" मैंने कहा, "यह तो आपकी चालाकी है। इस तरह आपने देशबंधु को अपंग बना रखा है, जिससे उन्हें सदा आपकी खुशामद करनी पड़े और आप पर सहारा रखना पड़े।" हँसी से कमरा गूंज उठा। देशबंधु मध्यस्थ हुए। "एक महीने बाद मेरी परीक्षा लेना। उस समय मैं रस्सियां निकालता न मिलूंगा।" मैंने कहा, "ठीक है। आपके लिए सतीशबाबू शिक्षक भी भेजे देंगे। आप जब पास

हो जायंगे तो समझियेगा कि स्वराज्य नजदीक आ गया।" ऐसे सब विनोदों का वर्णन करने लगूं तो खात्मा नहीं हो सकता।

कितने ही संस्मरण तो ऐसे हैं, जिनका वर्णन मैं कर ही नहीं सकता।

मैं जिस प्रेम का अनुभव वहां कर रहा था उसकी कुछ झलक यदि यहां न दिखाऊं तो मैं कृतघ्न माना जाऊंगा। वह छोटी-छोटी-सी बात की संभाल रखते थे। मेवे खुद कलकत्ते से मंगवाते। दार्जिलिंग में बकरी या बकरी का दूध मिलना मुश्किल पड़ता है। इसलिए ठेठ तलहटी से पांच बकरियां मंगवा कर रखीं। मेरी जरूरत की एक-एक चीज का इंतजाम किये बगैर न रहते थे। हमारे कमरे के दरम्यान सिर्फ एक दीवार थी। सुबह होते ही, काम-काज से निबटकर, मेरी राह देखते बैठते। चारपाई पर बैठते थे, चारपाई अभी नहीं छूटी थी। पल्थी मारकर बैठने की मेरी आदत से परिचित थे। सो कुरसी पर नहीं बैठने देते थे। खटिया पर ही अपने सामने मुझे बैठाते। गद्दे पर भी कुछ खास तौर पर बिछवाते और तकिया भी लगवाते। मुझसे दिल्लगी किये बिना न रहा गया, "यह दृश्य तो मुझे चालीस बरस पहले की याद दिलाता है। जब मेरी शादी हुई थी तब हम दुलहे-दुलहिन इस तरह बैठे थे। अब यहां पाणि-ग्रहण की ही कसर है।" मेरे कहने की देर थी कि देशबंधु के कहकहे से सारा घर गूंज उठा। देशबंधु जब हँसते तो उनकी आवाज दूर तक पहुंचे बिना न रहती।

देशबंधु का हृदय दिन-पर-दिन कोमल होता जाता था। रूढ़ि के अनुसार मांस-मछली खाने में उन्हें कोई विधि-निषेध न था। फिर भी जब असहयोग शुरू हुआ तब मांसाहार, मद्यपान और चुरट तीनों चीजें उन्होंने छोड़ दी थीं। पीछे जाकर फिर उन्होंने अपना जोर जमाया था, परंतु उनका झुकाव इनको छोड़ने की ओर ही रहता था। अभी कुछ दिनों से राधास्वामी संप्रदाय के एक साधु से उनका समागम हुआ। तब से निरामिष भोजन की उत्सुकता बढ़ गई थी। सो जबसे वह दार्जिलिंग गये, निरामिष भोजन शुरू

किया था। और मेरे रहने तक घर में मांस-मछली न आने दिया। मुझसे अनेक बार कहा, "यदि मुझसे हो सका तो अब से मैं मांस-मछली को छुऊंगा तक नहीं। मुझे वह पसंद थी नहीं और मैं समझता हूं कि इससे हमारी आध्यात्मिक उन्नति में बाधा पहुंचती है। मेरे गुरु ने मुझे खास तौर पर कहा कि साधना के खातिर तुम्हें मांसाहार अवश्य छोड़ देना चाहिए।"[1]

... ...

...यदि हमें देशबंधु की आत्मा को शांति दिलाना हो तो हमारे पास एक ही इलाज है। उनके तमाम सद्गुणों को हम अपने अंदर पैदा करें। कितने ही सद्गुण तो अवश्य पैदा कर सकते है। उनके सदृश अंग्रेजी चाहे हमें न आसके, उनकी तरह वकील हम सब न हो सकें, धारासभा में जाने की शक्ति उनके सदृश हमारे पास न हो, पर हमारे अंदर उनके जैसा देशप्रेम तो हो सकता है। उनके बराबर उदारता हम सीख सकते हैं। उनके बराबर धन हम चाहे न दे सकें, परंतु जो यथाशक्ति देते हैं, उन्होंने बहुत-कुछ दे दिया है। विधवा के एक तांबे के छल्ले की कीमत महाराज के करोड़ों में से दिये हजार की कीमत से ज्यादा है। देशबंधु ने खादी पहनने के बाद फिर घर में या बाहर उसका त्याग नहीं किया। क्या हम खादी पहनेंगे ? देशबंधु ने महीन खादी कभी न चाही उन्होंन तो मोटी खादी को ही पसंद किया था। देशबंधु ने कातने का प्रयत्न किया। जिन्होंने शुरू नहीं किया, क्या वे अब करेंगे ?[2]

: १४ :

महादेव देसाई

महादेव की अकस्मात् मृत्यु हो गई। पहले जरा भी पता

---

[1] हिंदी नवजीवन, २-७-२५

[2] हिंदी नवजीवन, ९-७-२५

नहीं चला। रात अच्छी तरह सोये। नाश्ता किया। मेरे साथ टहले। सुशीला[1] और जेल के डाक्टरों ने, जो कुछ कर सकते थे, किया लेकिन ईश्वर की मर्जी कुछ और थी। सुशीला और मैंने शव को स्नान कराया। शरीर शांति से पड़ा है, फूलों से ढका है, धूप जल रही है। सुशीला और मैं गीता-पाठ कर रहे हैं। महादेव की योगी और देशभक्त की भांति मृत्यु हुई है। दुर्गा, बाबला और सुशीला से कहो, शोक करने की मनाई है। ऐसी महान् मृत्यु पर हर्ष ही होना चाहिए। अंत्येष्ठि मेरे सामने हो रही है। भस्म रख लूंगा।[2]

... ...

भावना तो महादेव की खुराक थी। ··· उसका बलिदान कोई छोटी चीज नहीं है। अकेला भी वह बहुत काम करेगा। ···· मैं इसे शुभ शकुन मानता हूं। शुद्धतम बलिदान हुआ है, इसका परिणाम अशुभ नहीं हो सकता। ···· महादेव मेरा अतिरिक्त शरीर था। कितनी दफा मैंने उसे मैक्सवेल के पास भेजा है, दूसरों के पास भेजा है। मान लेता था कि महादेव को काम सौंपा है तो वह कर लेगा।

... ...

उसे मेरा वारिस होना था, पर मुझे उसका वारिस होना पड़ा है। महादेव की समाधि पर जाना मेरे लिए बिल्कुल सहज बन गया है। मैं न जाऊं तो बेचैन हो जाऊं। वहां जाकर मैं कुछ करना नहीं चाहता, समय भी नहीं देना चाहता, मगर हो आता हूं, इतना ही मेरे लिए बस है। अगर मैं जिंदा रहा तो यह जमीन आगाखां[3] से मांग लूंगा। वह न दें, यह संभव हो सकता है। मगर किसी रोज तो हिंदुस्तान आजाद होगा। तब यह यात्रा का स्थान बनेगा। मैं वहां जाता हूं तो महादेव के गुणों का स्मरण करने के लिए, उन्हें ग्रहण करने के लिए। मैं उसकी स्मृति को

---

[1] डा० सुशीला नैयर [2] आगाखां महल से १५-८-४२ को दिया तार

[3] महादेवभाई की मृत्यु आगाखां महल में हुई थी।

खोना नहीं चाहता। और जिस तरह से वह यहां मरा, उससे उसकी स्त्री और उसके लड़के के प्रति मेरी वफादारी भी मुझे बताती है कि मुझे वहां नियमित रूप से जाना चाहिए। हो सकता है कि मेरी जिंदगी में यह जगह मुझे न मिल सके और इस जगह को यात्रा-स्थल बनते मैं न देख सकूं, मगर किसी-न-किसी दिन वह जरूर बनेगा, इतना मैं जानता हूं।

आज तो मैं सब काम उसका काम समझकर करता हूं। बाहर जाऊंगा तब भी उसीका काम करूंगा।

... ...

.... लगता ही नहीं कि महादेव सदा के लिए गया। कल रात को स्वप्न में वह लड़की .... कहती है, "महादेवभाई कहां हैं?" मैं उत्तर देता हूं, "बहन, मैं तो उसे श्मशान में छोड़ आया हूं।" पीछे वह पागल-सी हो जाती है, कहती है, "लाओ महादेव-भाई को! उसे वहां क्यों छोड़ आये?" .... महादेव की मैं भाट की तरह स्तुति करता हूं, मगर मेरा मन उसकी शिकायत भी करता है। उसकी मिसाल संपूर्ण या आदर्श नहीं मानना चाहिए। वह इस विचार का जप करते-करते चला गया कि मैं बापू के बाद क्या कर सकता हूं? बापू से पहले चला जाऊं तो अच्छा है। मगर उसे तो कहना चाहिए था कि "नहीं, मुझे तो जिंदा रहना है और बापू का काम करना है।" यह दृढ़ संकल्प उसे मरने से रोक भी लेता।[१]

... ...

मेरे विचार से महादेव के चरित्र की सबसे बड़ी खूबी थी मौका पड़ने पर अपनेको भूलकर शून्यवत् बन जाने की उनकी शक्ति।[२]

... ...

जमनालाल, मगनलाल और महादेव—इनमें से हरेक

---

[१] कारावास-कहानी [२] हरिजन सेवक १२-८-४६

अपने-अपने क्षेत्र में अनूठे थे। मेरा खयाल है कि उनकी जगह दूसरे नहीं ले सकते। मगर मैं कहूंगा कि इन तीनों में से महादेव मुझमें पूरी तरह खो गया था। मैं यह कह सकता हूं कि मुझसे अलग उसकी कोई हस्ती ही नहीं रह गई थी।

महादेव की एक बड़ी खूबी यह थी कि जो काम उन्हें सौंपा जाता था, उसे करने के लिए वह सदा तैयार रहते और बड़े उत्साह से करते थे। इसी तरह वह एक अच्छे लेखक, अच्छे रसोइया और अच्छे कुली बन सके थे। अक्सर जो लोग मेरे साथ काम करने के लिए आते हैं, वे ऐसे ही बन जाते हैं।[1]

... ...

महादेव गुलाब का फूल है।[2]

... ...

वह मेरे बॉसवेल (जीवनी लिखनेवाले) बनना चाहते थे, फिर भी मुझसे पहले मरना चाहते थे। इससे बेहतर वह क्या कर सकते थे? सो वह तो चले गये और मुझे उनकी जीवनी लिखने के लिए छोड़ गये।... बच्चे अपने मां-बाप के पहले मरना चाहें तो इससे बढ़कर बेरहमी और क्या हो सकती है? यह उनका निरा स्वार्थ है। भले ही मैं दूसरों को इस बात का यकीन न दिला सकूं, लेकिन यह मैं जरूर महसूस करता हूं कि मौत कभी वक्त से पहले नहीं आती। दुनिया में अपना काम खत्म करने से पहले कोई मर्द या औरत कभी नहीं मरता। महादेव ने पचास साल में सौ बरस का काम पूरा कर डाला था। सो वह आराम करने चले गये, जिसपर उनका पूरा हक था।[3]

... ...

महादेव के मित्र और प्रशंसक उनके प्रिय काम करके ही उनकी बरसी मना सकते हैं। वह बड़े शक्तिशाली पुरुष थे। वह सुंदर

---

[1] हरिजन सेवक १८-८-४६ [2] हरिजन सेवक, १८-८-४६
[3] हरिजन सेवक १८-८-४६

और सुडौल अक्षर लिखते थे। वह कई चीजों से प्यार करते थे। लेकिन उन सबमें चर्खे की जगह पहली थी। एक कलाकार होने के नाते वह नियम से बहुत बढ़िया कताई करते थे। कामकाज के भारी बोझ से थककर चूर हो जाने पर भी वह हमेशा कातने का वक्त निकाल लेते थे। चर्खा उन्हें फिर तरोताजा बना देता था।

उनकी कई खूबियों में उनके बेजोड़ अक्षर भी कोई कम महत्व नहीं रखते थे। उसमें कोई उनका सानी न था। रामदास स्वामी ने अपने एक दोहे में खूबसूरत अक्षरों की चमकीले मोतियों से तुलना की है। महादेव की कलम से निकले हुए अक्षर खरे मोती जैसे होते थे।

उनकी तीसरी खूबी थी, हिंदुस्तान की भाषाओं से उनका प्रेम। वह भाषा-शास्त्री थे। बंगाली, मराठी और हिंदी पर उनका पूरा अधिकार था और वह उर्दू भी सीख चुके थे।[1]

: १५ :

सरोजिनी नायडू

सरोजिनी देवी आगामी वर्ष के लिए महासभा[2] की सभा-नेत्री निर्वाचित हो गई। यह सम्मान उनको पिछले वर्ष ही दिया जानेवाला था। बड़ी योग्यता द्वारा उन्होंने यह सम्मान प्राप्त किया है। उनकी असीम शक्ति के लिए और पूर्व और दक्षिण अफ्रीका में राष्ट्रीय प्रतिनिधि के रूप में की गई महान सेवा के लिए वह इस सम्मान की पात्र हैं और आजकल के दिनों में जबकि स्त्री-जाति के अंदर भारी जागृति हो रही है, स्वागत-कारिणी-समिति का भारतवर्ष की एक सर्वोत्तम प्रतिभाशालिनी पुत्री को सभापति चुनना भारतवर्ष की स्त्री-जाति का समुचित सम्मान करना है। उनके सभापति चुने जाने से हमारे प्रवासी देश-भाइयों

[1] हरिजन सेवक, ८-९-४६

[2] कांग्रेस

को पूर्ण संतोष होगा और इससे उनके अंदर वह साहस पैदा होगा, जिससे वे अपने सामने उपस्थित लड़ाई को लड़ सकेंगे। राष्ट्र द्वारा दिये जाने वाले सबसे ऊंचे पद पर उनका होना स्वतंत्रता को हमारे अधिक समीप लावे।[१]

... ...

अमेरिका के लिए श्री सरोजिनीदेवी ने गत १२ ता० को हिंदुस्तान का किनारा छोड़ा। यूरोप, अमेरिका, इत्यादि मुल्कों में अपनी स्थायी सभाएं स्थापित करके या समय-समय पर अपने प्रतिनिधि भेजकर हमारे बारे में जो झूठी मान्यताएं प्रचलित हो गई हैं, उन्हें दूर करने की आशा अनेक आदमी रखते हैं। मुझे यह आशा हमेशा ही गलत जान पड़ी है। ऐसा करने से हम सार्व-जनिक धन का और जिनका और अच्छा उपयोग हो सकता है, उन लोगों के समय का दुरुपयोग करेंगे। किंतु पश्चिम में अगर किसीका जाना फल सकता है तो सरोजिनीदेवी का या कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर का जाना अवश्य फल सकता है। सरोजिनीदेवी का नाम उनके काव्यों से पश्चिम में प्रसिद्ध है। उनमें चतुराई भी वैसी ही है। उन्हें यह भली-भांति मालूम है कि कहां, क्या और कितना कहना चाहिए। किसीको दुःख पहुंचाये बिना खरी-खरी सुना देने की कला उन्होंने साधी है। जहां कहीं वह जाती हैं, उनकी बात सुने बिना लोगों का काम चलता ही नहीं है। दक्षिण अफ्रीका में अपनी शक्ति का संपूर्ण उपयोग करके उन्होंने वहां के अंग्रेजों का मन हरण किया था और सुंदर विजय प्राप्त करके सर हबीबुल्ला-प्रतिनिधि-मंडल का रास्ता साफ किया था। वहां का काम कठिन था, किंतु वहांपर उन्होंने अपनी मर्यादा निश्चित करके कानून के जाल-पेंचों में न पड़ते हुए, मुख्य बात में लगे रह-कर अपना काम भली-भांति किया था और हिंदुस्तान का नाम चमकाया था। ऐसा ही काम वे अमेरिका आदि देशों में भी करेंगी।

हिंदी नवजीवन, ८-१०-२५

अमेरिका में उनकी हाजिरी ही मिस मेयो के असत्य का जवाब हो जायगी। उनका साहस भी उनकी दूसरी शक्तियों के ही समान है। परदेश जाने में न तो उन्हें किसी सहायक की आवश्यकता रहती है और न किसी मंत्री की ही। जहां कहीं जाना हो वह अकेले निर्भयता से विचर सकती हैं। उनकी ऐसी निर्भयता स्त्रियों के लिए तो अनुकरणीय है ही, पुरुषों को भी लजानेवाली है। हम अवश्य यह आशा रख सकते हैं कि उनकी पश्चिम की यात्रा में से अच्छा फल निकलेगा।[1]

अमेरिका से कई-एक मित्रों के पत्र बराबर मेरे पास आते रहते हैं, जिनमें सरोजिनीदेवी के काम की प्रशंसा रहती है। मित्र लिखते हैं कि सरोजिनीदेवी अमेरिका में बड़े महत्व का काम कर रही हैं और अपनी सारी ईश्वरदत्त प्रतिभा का इस देश के लिए पूरा-पूरा उपयोग कर रही हैं। इसमें शंका नहीं कि उन्होंने अमेरिकावासियों का मन मोह लिया है। कनाडा की एक बहन ने एक लंबे पत्र में अपने कुछ अनुभव लिखकर भेजे हैं, उसमें थोड़ी सी बातें नीचे देता हूं :

"सरोजिनी देवी थोड़े समय के लिए मेरी मेहमान बनी थीं। आपके उन मित्र और दूत से मिलकर मैंने अपने-आपको बड़भागी पाया है। मैं खुद एक स्त्री हूं, वह भी स्त्री ही हैं। साथ ही वह तो कवि और सुधारक हैं, इसीलिए उन्होंने मेरा हृदय और भी चुरा लिया है। उनकी आत्मा का मुझपर बहुत ज्यादा असर हुआ है और इतने दिन के बाद भी उनके मिलाप की बात हमारे हृदय में जैसी-की-तैसी बनी हुई है। जिस गिरजाघर में सरोजिनीदेवी ने व्याख्यान दिया था वह तो श्रोताओं से खचाखच भर गया था। उनके ज्ञान की, उनके अनुभवों की, उनकी काव्य-शक्ति की, उनके मधुर कोकिल कंठ की, उनके विनोद की—और अंग्रेजी भाषा पर उनके प्रभुत्व की मैं

[1] हिंदी नवजीवन, २०-९-२८

आपसे क्या बात कहूं ? जैसे-जैसे उनकी वाणी का प्रवाह बढ़ता गया, वैसे-वैसे लोग मारे आश्चर्य के चकित होते गये और आखिर-कार उनके गुणों पर पूरे-पूरे मुग्ध हो गये। उन्होंने हमारे सामने जितनी भी समस्याएं रखीं, हममें से कोई भी उनका उत्तर न दे सका। मेरे पास एक व्यवहार-कुशल व्यापारी बैठे हुए थे, उन्होंने समाधिवत् होकर उनका सारा व्याख्यान सुना। जो प्रश्न पूछे गये सरोजिनीदेवी ने उनके ठीक-ठीक उत्तर दिये और बीच-बीच में जिस ढंग से उन्होंने विनोद का सहारा लिया उसे देखकर तो पूर्वोक्त व्यापारी महाशय से बोले बिना न रहा गया। उन्होंने कहा, 'ऐसी शक्ति तो मैंने किसी भी दूसरी स्त्री में नहीं देखी। अगर सच कहूं, मेरी राय में कोई भी पुरुष इनके मुकाबले में खड़ा नहीं रह सकता।' वर्तमान भारत के विषय में उन्होंने जो कुछ कहा, वह बहुत ज्यादा असर करनेवाला था। उन्होंने हमारी न्याय-प्रियता को जागृत किया, हमारे हृदयों को पानी-पानी कर दिया और हमें उसी समय यह अनुभव होने लगा कि आपके वहां भी उसी तरह का राज्यतंत्र होना चाहिए, जैसा हमारे यहां है। सरोजिनीदेवी की रचना में, मालूम होता है, ईश्वर ने कई रंग पूरे हैं। उनसे भोजन के समय मिलिये या सम्मेलनों में मिलिये, सा-मान्य वार्तालाप के लिए मिलिये अथवा और किसी काम के लिए, हर हालत में उनकी प्रतिभा बिखरी पड़ती थी। उनके उत्साह का तो पार ही नहीं है। कई निमंत्रणों को स्वीकार कर चुकी हैं, एक ही दिन में कई जगह जाती हैं, लेकिन मालूम नहीं होता कि थकी हुई हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो उनके पास शक्ति का कोई अटूट भंडार है! लोकप्रियता से वह फूल नहीं उठतीं। यहां की सब अच्छी चीजें उन्हें पसंद हैं। वह बच्चों को प्यार करती हैं, सुंदर फूल उनका मन चुरा लेते हैं, हमारे वृक्ष, हमारे सरोवर और हमारी नदियां उन्हें आनंद प्रदान करती हैं, फिर भी वह भविष्य को नहीं भूलतीं। यानी, स्त्री-जाति में जो कमजोरियां रहती हैं और प्रशंसा के कारण जिस तरह बहुधा स्त्रियां अपना आपा भूल

जाती हैं, उस तरह का भय मुझे सरोजिनीदेवी के बारे में नहीं है।"

मैं नहीं समझता कि इन बहन ने जिन शब्दों में सरोजिनीदेवी की शक्ति का वर्णन किया है उनमें कोई बात बढ़ाकर लिखी गई है। सरोजिनीदेवी में वस्तुस्थिति को पल भर में समझ लेने की अपूर्व शक्ति है। वह अपनी मर्यादा को समझती हैं। अर्थशास्त्रियों और राजनैतिक नेताओं की बारीकी में वह कभी नहीं उतरतीं। इस तरह के ज्ञान का न तो वह कभी दावा करती हैं और न आडंबर ही। साधारण आदमी के पास जितना ज्ञान होता है, उतने ही ज्ञान की पूंजी से वह अपना काम इतनी चतुराई से कर लेती हैं कि सामनेवाला आदमी उन्हें कभी उलझन में डाल ही नहीं सकता। उलटे जो कुछ उनसे ग्रहण करता है उसीमें इतना संतोष अनुभव करता है, मानो उसे सबकुछ मिल गया हो।[1]

: १६ :

मोतीलाल नेहरू

महासभा का सभापतित्व अब फूलों का कोमल ताज नहीं रह गया है। फूल के दल तो दिनों-दिन गिरते जाते हैं और कांटे उघड़ते जाते हैं। अब इस कांटों के ताज को कौन धारण करेगा? बाप या बेटा? सैकड़ों लड़ाइयों के लड़ाका पंडित मोतीलाल नेहरू इस कांटों के ताज को पहनेंगे या संयम-नियम के पक्के जवान सिपाही पंडित जवाहरलाल नेहरू, जिन्होंने अपनी योग्यता और महत्ता से देश के युवकों के हृदयों पर अधिकार कर लिया है? श्रीयुत वल्लभभाई पटेल का नाम स्वभावत: ही सबकी जबान पर है। पंडितजी एक व्यक्तिगत पत्र में लिखते हैं कि इस समय तो वल्लभभाई पटेल को ही, उनकी वीरता के लिए, सभापति चुनना चाहिए और सरकार को यह दिखला देना चाहिए कि उन

[1] हिंदी नवजीवन, २१-२-२९

पर सारे राष्ट्र का विश्वास है। खैर, मगर अभी तो श्री वल्लभभाई का कोई प्रश्न ही नहीं हो सकता। इस समय उनके पास काम भी इतना पड़ा हुआ है कि वह बारडोली छोड़कर दूसरी ओर ध्यान ही नहीं दे सकते। और फिर दिसंबर आने से पहले ही संभव है कि वह सरकार के अनेक बंदीगृहों में से किसी एक में उसके अतिथि बनकर पहुंच जायं। मेरा अपना विचार तो यह है कि यह कांटों का ताज पंडित जवाहरलाल नेहरू को ही मिलना चाहिए। भविष्य तो देश के युवकों के ही हाथ में होना चाहिए। मगर बंगाल तो अगले साल, जबकि बहुत-से तूफानों का भय है, पंडित मोतीलाल के ही हाथों महासभा की पतवार देना चाहता है। हम लोगों में आपस में फूट है और चारों ओर से हमें एक ऐसा शत्रु घेरे हुए है जो जितना शक्तिशाली है, उतना ही नीति-अनीति से लापरवाह भी। बंगाल को इस समय किसी बड़े-बूढ़े की विशेष आवश्यकता है और वह भी ऐसे आदमी की, जिसने उसके गाढ़े अवसर पर, उसे संभाला हो। अगर सारे हिंदुस्तान के लिए आगे सुख का समय नहीं आने वाला है तो बंगाल के लिए तो और भी नहीं। इसके तो हजारों कारण हैं कि पंडित मोतीलालजी को ही क्यों यह कांटों का ताज धारण करना चाहिए। वह वीर हैं, उदार हैं, उनपर सभी दलों का विश्वास है, मुसलमान उन्हें अपना मित्र मानते हैं, उनके विरोधी भी उनका आदर करते हैं और अपनी जोरदार दलीलों से वह उन्हें प्रायः ही अपनी राय से सहमत कर लेते हैं और फिर इसके अलावा उनके स्वभाव में संधि और समझौते की भावना की ऐसी पुट भरी हुई है, जिससे वह किसी ऐसे राष्ट्र के अत्यंत योग्य दूत होने लायक हैं, जिसे सम्मानित समझौते की आवश्यकता है और जो उसे करने के लिए तैयार है। इन्हीं बातों पर विचार करके, अत्यंत साहसी बंगाली देशभक्त पंडित मोतीलाल नेहरू को ही अगले वर्ष के लिए राष्ट्र का कर्णधार बनाना चाहते हैं।[1]

---

[1] हिंदी नवजीवन, २६-७-२८

मैं श्री मोतीलाल नेहरू इत्यादि की याद आपको दिला दूंगा, जिन्होंने अपनी कानूनी लियाकत बिल्कुल मुफ्त बांटी और अपने देश की बड़ी अच्छी तथा विश्वस्त सेवा की। आप मुझे शायद ताना देंगे कि वे लोग इस कारण ऐसा कर सके थे कि वे अपने व्यवसाय में बड़ी लंबी फीस लेते थे। मै इस तर्क को इस कारण नहीं मान सकता कि मनमोहन घोष के सिवा मेरा और सबसे परिचय रहा है। अधिक रुपया होने की वजह से इन लोगों ने भारत को आवश्यकता पड़ने पर अपनी योग्यता उदारतापूर्वक दी हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उसका उनकी आराम तथा विलास से रहने की योग्यता से कोई संबंध नहीं है। मैंने उनको बड़े संतोष से दीनतापूर्वक जीवन-निर्वाह करते देखा है।[1]

... ...

स्वर्गीय मोतीलालजी के चित्र के उद्घाटन का जो सम्मान तुम लोगों ने मुझे दिया है, उसके लिए मैं तुम्हारा आभारी हूं। तुम्हारे पास उनकी छवि रहे और उनके पवित्र भावों को तुम सदा अपने हृदय में अंकित रखो, यह उचित ही है। यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि जैसा संबंध दो सगे-सहोदर भाइयों के बीच होता है, वैसा ही प्रगाढ़ प्रेम-संबंध मोतीलालजी के और मेरे बीच था। मोतीलालजी की देश-सेवा, मोतीलालजी का त्याग, मोतीलालजी का अपने पुत्र-पुत्रियों के प्रति अनुपम प्रेम, इन सब बातों का परिचय जैसा मुझे था, लगभग वैसा ही तुम्हें भी होना चाहिए। जब से मुझे मोतीलालजी का प्रथम परिचय प्राप्त हुआ, तब से उनके जीवन के अंतिम समय तक उनके निकट संसर्ग में रहने का सद्भाग्य ईश्वर ने मुझे दिया था। मैंने देखा कि वह प्रतिक्षण स्वदेशहित का ही चिंतन करते थे। उनके लिए स्वराज्य स्वप्न नहीं, बल्कि प्राण था। स्वराज्य की उन्हें सदा तृष्णा-पिपासा

---

[1] हिंदी नवजीवन, १२-११-३१

रही और वह दिन-दिन बढ़ती ही गई। ऐसे आदर्श देशभक्त का चित्र अपने सम्मुख रखना उचित ही है। . . .

पंडित मोतीलालजी के सद्गुणों में एक गुण यह भी था कि वह अस्पृश्यता नहीं मानते थे। वह मानों एक राजपुरुष थे। उन्होंने तो बेहद रुपया कमाया, उसे सत्कार्यों में, स्वराज्य के कार्यों में लुटाया। मुझे उनके ऐसे दृष्टांत मालूम हैं कि उनके हृदय में ऊंच-नीच का भाव था ही नहीं।[1]

... ...

उस जमाने में हमने विदेशी कपड़े के पहाड़ चिन-चिनकर जला दिये थे और कोई यह नहीं कहता था कि इससे राष्ट्र की निधि बरबाद हो रही है। श्रीमती नायडू ने अपनी पेरिस की साड़ी जला दी थी और स्व० मोतीलालजी ने भी अपने विलायती कपड़ों में दियासलाई लगा दी थी। उनके पास तो आलमारी-की-आलमारियां विदेशी कपड़े थे। इसके बाद जब वह जेल गये तब उन्होंने मेरे पास एक खत भेजा था—आज वह खत मैं खोज नहीं सकता—पर उसमें था कि मैं सच्चा जीवन अब ही जी रहा हूं, आनंद भवन में मेरे पास जो समृद्धि थी उससे मुझे यह सुख नहीं मिलता था। वहां उन्हें सिगार, शराब, गोश्त कुछ नहीं मिलता था। पूरा भोजन भी नहीं मिलता था, फिर भी उसमें उन्हें सुख मालूम हुआ। यह सही है कि उनकी यह चीज हमेशा नहीं चली।[2]

. . . मेरी हालत विधवा-स्त्री से भी बुरी है। एक विधवा अपने पति की मृत्यु के बाद वफादारी से जीवन बिताकर अपने पति के अच्छे कामों का फल पा सकती है। मैं कुछ भी नहीं पा सकता। मोतीलालजी की मृत्यु से मैंने जो खोया है, वह मेरा सदा के लिए नुकसान है।[3]

---

[1] हिंदी नवजीवन, २९-१२-३३

[2] प्रार्थना-प्रवचन, २०-६-४७

[3] 'कोई शिकायत नहीं', पृष्ठ ७३

. . . . मोतीलालजी की मृत्यु हरेक देश-भक्त के लिए ईर्ष्यास्पद होनी चाहिए, क्योंकि अपना सबकुछ न्यौछावर करके वह मरे हैं और अंत समय तक देश का ही ध्यान करते रहे हैं। इस वीर की मृत्यु से हमारे अंदर भी बलिदान की भावना आनी चाहिए।[1]

: १७ :

वल्लभभाई पटेल

सरदार वल्लभभाई पटेल के साथ रहना मेरा बड़ा सौभाग्य था। उनकी अनुपम वीरता से मैं अच्छी तरह परिचित था, परंतु पिछले १६ महीने में जिस प्रकार रहा, वैसा सौभाग्य मुझे कभी नहीं मिला था। जिस प्रकार उन्होंने मुझे स्नेह से ढक लिया, वह मुझे मेरी मां की याद दिलाता है। मैं यह कभी नहीं जानता था कि उनमें मां के गुण भी हैं। ··· बारदोली और खेड़ा के किसानों के लिए उनकी चिंता मैं कभी नहीं भूल सकता।[2]

... ...

सरदार वल्लभभाई हँसी में कहा करते थे कि उनके हाथ की रेखाओं में जेल की रेखा नहीं है। उन लोगों के लिए जेल है ही नहीं, जिनके मन में जेल महल के समान है और जो जेल और महल में कोई भेद नहीं समझते। जहां आज सरदार विराजे हैं, वहां हम सबको जाना है, पर बिना योग्यता प्राप्त किये जेल नहीं मिलती। सरदार वल्लभभाई की अमूल्य सेवाओं के हम पात्र थे या नहीं, इसे प्रमाणित करने का अवसर अब आ गया है। उन्हें गुजरात से आशा क्यों न हो? उन्होंने मजदूरों की सेवा में कौन कमी रखी है?

---

[1] ७ फरवरी को दिया गया संदेश

[2] 'महादेवभाई की डायरी'

डाकवालों और रेलवे के नौकरों ने उनके पास बैठकर स्वराज्य का पाठ कौन कम पढ़ा है ? अहमदाबाद का ऐसा कौन नागरिक है जो नहीं जानता कि उन्होंने अपना सर्वस्व होम कर शहर की सेवा की है ? शहर में जब भीषण महामारी फैली थी, उन दिनों गरीबों की सेवा का इंतजाम करनेवाला कौन था ? वल्लभभाई। अकाल पड़ने पर अकाल-पीड़ितों की मदद के लिए दौड़ पड़नेवाला कौन था ? वल्लभभाई। गुजरात में ऐतिहासिक बाढ़ आई, लाखों लोग घरबार-विहीन बन गये, खेतों की फसल बह गई। उस समय सारे गुजरात का संकट टालने के लिए सैकड़ों स्वयंसेवकों को तैयार करनेवाला, लोगों के लिए एक करोड़ रुपये सरकार के खजाने से निकलवानेवाला कौन था ? वल्लभभाई ही। और वह भी वल्लभभाई ही थे, जिन्हें बारदोली की जीत के लिए ऋणी जनता ने सरदार कहकर पुकारा और जो संपूर्ण स्वराज्य की आखिरी लड़ाई के लिए जनता को तैयार कर रहे थे। वल्लभभाई तो अपने कर्तव्य का पालन करते हुए जेल पहुंच गये। अब हमें क्या करना चाहिए ? इस सवाल का एक जवाब तो साफ ही है। हम हिम्मत न हारें, उलटे हममें से हरएक दुगुनी दृढ़ता और दुगुनी हिम्मत के साथ सविनय-भंग के लिए तैयार हो जायं और जेल की, या मौत मिले तो मौत की, राह पकड़ लें। सरदार के जाने के बाद अब रहनुमा कौन होगा ? इस तरह का नामर्दी से भरा हुआ सवाल कोई अपने मन में न उठने दे। ··· जिसे सविनय-भंग करना है, उसके पास आज बहुतेरे साधन पड़े हुए हैं और सरकार नये-नये साधन पैदा कर रही है। जैसे हमारे लिए यह जीवन-मरण का खेल है, वैसे ही सरकार के लिए भी है। मालूम होता है कि उसकी हस्ती का आधार ही स्वतंत्र स्वभाव के मनुष्यों को दबाने पर है, नहीं तो वह वल्लभभाई के समान शांति, रक्षा के लिए प्रसिद्ध आदमी को क्यों पकड़ती ? [१]

---

[१] हिंदी नवजीवन, १३-३-३०

सरदार के लिए सब समान हैं, एक नन्हा बालक भी इसे जानता है। उन्हें तो गरीब-मात्र की सेवा करनी है। फिर भले ही वह भंगी हो या ब्राह्मण, गुजराती हो या मद्रासी, राष्ट्र ने उनकी इस विशेषता को पहचाना और पहचानकर राष्ट्रपति बनाया।[1]

... ...

···सरदार मेरे सगे भाई के समान हैं, तथापि इतना प्रमाण पत्र देते हुए मुझे जरा भी संकोच नहीं होता।[2]

... ...

वल्लभभाई अरबी घोड़े की तेजी से दौड़ रहे हैं। संस्कृत की किताब हाथ से छूटती ही नहीं। इसकी मुझे आशा नहीं थी! लिफाफों में तो कोई उनकी बराबरी नहीं कर सकता। लिफाफे वह नापे बिना बनाते हैं और अंदाज से काटते हैं, मगर बराबर के निकलते हैं और फिर भी ऐसा नहीं लगता कि इसमें बहुत समय लगता है। उनकी व्यवस्था आश्चर्यजनक है। जो कुछ करना हो उसे याद रखने के लिए छोड़ते ही नहीं। जैसे आया वैसे ही कर डाला। कातना जब से शुरू किया है, तब से बराबर समय पर कातते हैं। इस तरह सूत में और गति में रोज सुधार होता जा रहा है। हाथ में लिया हुआ भूल जाने की बात तो शायद ही होती है। और जहां इतनी व्यवस्था हो, वहां धांधली तो हो ही कैसे?[3]

... ...

कई मुसलमान दोस्तों ने शिकायत की थी कि सरदार का रुख मुसलमानों के खिलाफ है। मैंने कुछ दुःख से उनकी बात सुनी, मगर कोई सफाई पेश न की। उपवास शुरू होने के बाद मैंने अपने ऊपर जो रोक-थाम लगाई हुई थी वह चली गई। इसलिए मैंने टीकाकारों को कहा कि सरदार को मुझसे और पंडित नेहरू से

[1] हिंदी नवजीवन, १४-५-३१

[2] 'विजयी बारदोली'

[3] महादेवभाई की डायरी, २८-८-३२

अलग करके और मुझे और पंडित नेहरू को खामख्वाह् आसमान पर चढ़ाकर वे गलती करते हैं।

इससे उनको फायदा नहीं पहुंच सकता। सरदार के बात करने के ढंग में एक तरह् का अक्खड़पन है, जिससे कभी-कभी लोगों का दिल दुख जाता है, अगरचे सरदार का इरादा किसीको दुःखी बनाने का नही होता। उनका दिल बहुत बड़ा है। उसमें सबके लिए जगह् है। सो मैंने जो कहा, उसका मतलब यह् था कि अपने जीवन भर के वफादार साथी को एक बेजा इलजाम से बरी कर दूं। मुझे यह् भी डर था कि सुननेवाले कहीं यह् न समझ बैठें कि मैं सरदार को अपना 'जी हुजूर' मानता हूं। सरदार को प्रेम से मेरा 'जी हुजूर' कहा जाता था। इसलिए मैंने सरदार की तारीफ करते समय कह् दिया कि वह् इतने शक्तिशाली और मन के मजबूत हैं कि वह् किसीके 'जी हुजूर' हो ही नहीं सकते। जब वह् मेरे 'जी हुजूर' कहलाते थे तब वह् ऐसा कहने देते थे, क्योंकि जो कुछ मैं कहता था वह् अपने-आप उनके गले उतर जाता था। वे अपने क्षेत्र में बहुत बड़े थे। अहमदाबाद म्युनिसिपैलिटी में उन्होंने शासन चलाने में बहुत काबलियत बताई थी। मगर वह् इतने नम्र थे कि उन्होंने अपनी राजनैतिक तालीम मेरे नीचे शुरू की। उन्होंने उसका कारण मुझे बताया था कि जब मैं हिंदुस्तान में आया था उन दिनों जिस तरह् का राज-काज हिंदुस्तान में चलता था, उसमें हिस्सा लेने का उन्हें मन नहीं होता था। मगर अब जब सत्ता उनके गले आ पड़ी तब उन्होंने देखा कि जिस अहिंसा को वह् आजतक सफलतापूर्वक चला सके अब वह् नहीं चला सकते। मैंने कहा है कि मैं समझ गया हूं कि जिस चीज को मैं और मेरे साथी अहिंसा कहा करते थे वह् सच्ची अहिंसा न थी। बह् तो नकली चीज थी और उसका नाम है निष्क्रिय प्रतिरोध। हां, किनके हाथों में निष्क्रिय प्रतिरोध किसी काम की चीज है? जरा सोचिये तो सही कि एक कमजोर आदमी जनता का प्रतिनिधि बने तो वह् अपने मालिकों की हँसी और बेइज्जती ही करवा सकता है। मैं जानता

हूं कि सरदार कभी उन्हें सौंपी हुई जिम्मेदारी को दगा नहीं दे सकते। वे उसका पतन बर्दाश्त नहीं कर सकते।[1]

: १८ :

जमनालाल बजाज

सेठ जमनालाल बजाज को छीनकर काल ने हमारे बीच से एक शक्तिशाली व्यक्ति को छीन लिया है। जब-जब मैंने धनवानों के लिए यह लिखा कि वे लोककल्याण की दृष्टि से अपने धन के ट्रस्टी बन जायं तब-तब मेरे सामने सदा ही इस वणिक् शिरोमणि का उदाहरण मुख्य रहा। अगर वह अपनी संपत्ति के आदर्श ट्रस्टी नहीं बन पाये तो इसमें दोष उनका नहीं था। मैंने जानबूझकर उनको रोका। मैं नहीं चाहता था कि वे उत्साह में आकर ऐसा कोई काम कर लें, जिसके लिए बाद में शांत मन से सोचने पर उन्हें पछताना पड़े। उनकी सादगी तो उनकी अपनी ही चीज थी। अपने लिए उन्होंने जितने भी घर बनाये, वे उनके घर नहीं रहे, धर्मशाला बन गये। सत्याग्रही के नाते उनका दान सर्वोत्तम रहा। राजनैतिक प्रश्नों की चर्चा में वह अपनी राय दृढ़तापूर्वक व्यक्त करते थे। उनके निर्णय पक्के हुआ करते थे। त्याग की दृष्टि से उनका अंतिम कार्य सर्वश्रेष्ठ रहा। वह किसी ऐसे रचनात्मक काम में लग जाना चाहते थे, जिसमें वह अपनी पूरी योग्यता के साथ अपने जीवन का शेष भाग तन्मय होकर बिता सकें। देश के पशु-धन की रक्षा का काम उन्होंने अपने लिए चुना था और गाय को उसका प्रतीक माना था। इस काम में वह इतनी एकाग्रता और लगन के साथ जुट गये थे कि जिसकी कोई मिसाल नहीं। उनकी उदारता में जाति, धर्म या वर्ण की संकुचितता को कोई स्थान न था। वह एक ऐसी साधना में लगे हुए थे, जो कामकाजी आदमी के

[1] प्रार्थना-प्रवचन, १५-१-४८

लिए विरल है। विचार-संयम उनकी एक बड़ी साधना थी। वह सदा ही अपनेको तस्कर विचारों से बचाने की कोशिश में रहते थे। उनके अवसान से वसुंधरा का एक रत्न कम हो गया है। उनको खोकर देश ने अपना एक वीर-से-वीर सेवक खोया है। जिस कार्य के लिए उन्होंने अपना शेष जीवन समर्पित कर दिया था, उसे अब उनकी विधवा जानकीदेवी ने स्वयं करने का निश्चय किया है। उन्होंने अपनी समस्त निजी संपत्ति को, जो करीब ढाई लाख के आस-पास है, कृष्णार्पण कर दिया है। ईश्वर उन्हें अपने इस अंगीकृत कार्य में सफल होने की शक्ति दे।[1]

... ...

मेरे साथ जमनालालजी का संबंध करीब-करीब तभी से शुरू हुआ जब से मैंने हिंदुस्तान के सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया। उन्होंने मेरे सभी कामों को पूरी तरह अपना लिया था, यहांतक कि मुझे कुछ करना ही नहीं पड़ता था। ज्योंही मैं किसी नये काम को शुरू करता वह उसका बोझ खुद उठा लेते थे। इस तरह मुझे निश्चिंत कर देना मानो उनका जीवन-कार्य ही बन गया था। ...

११ फरवरी को जब मैं जमनालालजी के द्वार पर पहुंचा तो उनका देहांत हो चुका था। मेरे पास वर्धा से संदेश तो सिर्फ यही आया था कि खून का दौरा कम करने की दवा भेजें। मैं दवा भेजकर अपने दिल की तसल्ली कर सकता था। लेकिन उस दिन मैंने महसूस किया कि नहीं, मुझे खुद ही जाना चाहिए। जब वहां पहुंचा तो मामला कुछ और ही पाया।

जमनालालजी तो बड़भागी थे। उनकी तरह हम भी अपने को बड़भागी साबित कर सकते हैं, बशर्ते कि जो चीज उनके रहते हमें साफ नहीं दिखाई दी वह उनके बाद हमें साफ दिखाई देने लगे, जो जाग्रति हममें उनके जीवित रहते नहीं आई वह अब

---

[1] हरिजन सेवक, १५-२-४२

सब में आ जाय।

उनका सबसे बड़ा काम गोसेवा का था। वैसे तो यह काम पहले भी चलता था; लेकिन धीमी चाल से। इसमें उन्हें संतोष न था। उन्होंने इसे तीव्र गति से चलाना चाहा और इतनी तीव्रता से चलाया कि खुद ही चल बसे।...

... ...

खादी के काम में उनकी दिलचस्पी मुझसे कम न थी। खादी के लिए जितना समय मैंने दिया उतना ही उन्होंने भी दिया। उन्होंने इस काम के पीछे मुझसे कम बुद्धि खर्च नहीं की थी। इस-लिए कार्यकर्त्ता भी वह ही ढूंढ़-ढूंढ़कर मेरे पास लाया करते थे। थोड़े में यह कह लीजिय कि अगर मैंने खादी का मंत्र दिया तो जमनालालजी ने उसको मूर्त्त रूप दिया। खादी का काम कुछ होने के बाद मैं तो जेल में जा बैठा, मगर वह जानते थे कि मेरे नजदीक खादी ही में स्वराज्य है। अगर उन्होंने तुरंत ही उसमें रत होकर उसे संगठित रूप न दिया होता तो मेरी गैरहाजिरी में सारा काम तीन-तेरह हो जाता।

यही बात ग्रामोद्योग की थी। उन्होंने इसके लिए मगनवाड़ी दी ही थी, साथ ही उसके सामने की कुछ जमीन भी वह मगनवाड़ी के लिए खरीदने का संकल्प कर चुके थे। अब चि० कमलनयन[1] ने वह जमीन भी मगनवाड़ी को दे दी है। ग्रामोद्योग का काम इतना व्यापक है कि इसमें अटूट रुपया खर्च किया जा सकता है।...

... ...

एक बात और जमनालालजी कई बार कहा करते थे कि लोग और सब जगह तो खादी पहनकर चले जाते हैं, लेकिन बैंक में नहीं जाते। अगर बैंक में वह अपनी मारवाड़ी पगड़ी पहनकर न जायं तो उनके खयाल में इसमें उनकी प्रतिष्ठा की हानि होती है। मगर खुद जमनालालजी ने कभी इसकी कोई चर्चा नहीं की।

---

[1] जमनालालजी के ज्येष्ठ पुत्र

फिर उसका नतीजा कुछ भी क्यों न हुआ हो ! अत: मैं यह चाहता हूं कि हममें इतनी स्वतंत्रता और इतना आत्म-गौरव पैदा हो जाना चाहिए कि हम अपनी खादी की पोशाक में हर जगह बिना झिझक के जा सकें।

अबतक इस देश की आजादी को खोने में व्यापारी-समाज की खास जिम्मेदारी रही है। जमनालालजी को यह चीज बराबर खटका करती थी। . . .

जमनालालजी के दूसरे काम आंखों के सामने ही हैं। महिला-आश्रम को ही लीजिये। यह उनकी अपनी एक विशेष कृति है। उन्हींकी कल्पना के अनुसार यह अबतक काम करता रहा है। जमनालालजी के सामने सवाल यह था कि जो लोग देश के काम में जुटकर भिखारी बन जाते हैं, उनके बाल-बच्चों की शिक्षा का क्या प्रबंध हो ? उन्होंने कहा कि कम-से-कम उनकी लड़कियों को सरकारी मदरसों के मुकाबले में अच्छी ही तालीम मिल सकेगी। बस, इसी खयाल से महिला-आश्रम की स्थापना हुई। आज इस आश्रम के लिए एक त्यागी और सुशिक्षित महिला की आवश्यकता है। आप इस आवश्यकता की पूर्ति में सहायक हो सकते हैं। बुनियादी तालीम और हरिजन-सेवक-संघ के काम का भी यही हाल है। आप इनमें शरीक हो सकते हैं। हिंदू-मुस्लिम-एकता के लिए उनके दिल में खास लगन थी। उनके अंदर सांप्रदायिक द्वेष की बू तक न थी। आप उनके जीवन से इस गुण को ग्रहण कर सकते हैं। . . .

जमनालालजी का स्मृति-स्तंभ खड़ा करके हम उनकी याद को चिरस्थायी नहीं बना सकते। स्तंभ पर खुदे हुए शिला-लेख को तो लोग पढ़कर थोड़े ही समय में भूल जायंगे, परंतु जिस आदमी ने दुनिया के लिए इतना कुछ किया है उसके काम को चिरस्थायी रखने का संकल्प कोई कर लें तो वह उनका सच्चा स्मारक हो रहेगा। किंतु इसके लिए मैं जबरदस्ती नहीं करना चाहता। जिसे जो कुछ भी करना हो आत्मोन्नति के लिए करे। अगर

दिखावे के लिए कुछ भी होगा तो उससे मुझे और जमनालालजी की आत्मा को उल्टा कष्ट ही होगा ।[1]

... ...

जमनालाल का शरीर मर गया, पर असल जमनालाल तो जिंदा ही है और आगे के लिए उसे जिंदा रखना हमारा काम है ।[2]

: १९ :

सुभाषचंद्र बोस

... नेताजी के जीवन से जो सबसे बड़ी शिक्षा ली जा सकती है वह है उनकी अपने अनुयायियों में ऐक्यभावना की प्रेरणाविधि, जिससे कि वे सब सांप्रदायिक तथा प्रांतीय बंधनों से मुक्त रह सके और एक समान उद्देश्य के लिए अपना रक्त बहा सकें । उनकी अनुपम सफलता उन्हें निस्संदेह इतिहास के पन्नों में अमर रखेगी ।

नेताजी के प्रत्येक अनुगामी ने, जो भारत लौटने पर मुझसे मिले, निर्विवाद रूप से यह कहा कि नेताजी का प्रभाव उनपर जादू-सा हुआ करता था और वे उनके अधीन एकमात्र भारत की आजादी प्राप्त करने के उद्देश्य से काम करते थे । उनके दिलों में सांप्रदायिक और प्रांतीय या और कोई भी भेदभाव कभी भी अंकुरित नहीं हुआ था ।

नेताजी एक महान् गुणवान पुरुष थे । वह व्युत्पन्नमति और प्रतिभा-संपन्न थे । उन्होंने आई०सी०एस० की परीक्षा उत्तीर्ण की; किंतु नौकरी नहीं की । भारत लौटने पर वह देशबंधुदास से प्रभावित हुए और कलकत्ता कारपोरेशन के मुख्य एक्जीक्यूटिव आफिसर नियुक्त हुए । बाद में वह राष्ट्रीय महासभा के भी दो बार राष्ट्रपति बने, परंतु उनकी उल्लेखनीय सफलताओं में, भारत

---

[1] सेवाग्राम, २८-२-४२

[2] जमनालालजी, पृष्ठ १८

से बाहर के, उस समय के कार्य हैं, जब वह देश से भागे और काबुल, इटली, जर्मनी और अन्य देशों से होकर अंत में जापान पहुंचे। विदेशी चाहे कुछ भी कहें, पर मैं विश्वास के साथ यह अवश्य कहूंगा कि आज भारत में एक भी ऐसा आदमी नहीं है जो उनके इस प्रकार भागने को अपराध मानता है। 'समरथ को नहीं दोष गुसाईं'—संत तुलसीदास के इस कथन के अनुसार नेताजी पर भागने का दोष नहीं लगाया जा सकता। जब सर्वप्रथम उन्होंने सेना तैयार की तो उसकी तुच्छ संख्या की उन्होंने कोई चिंता नहीं की। उनका निश्चय था कि संख्या चाहे कितनी ही कम क्यों न हो, पर भारत को आजाद कराने के लिए उन्हें सामर्थ्य भर यत्न करना ही चाहिए।

नेताजी का सबसे महान् और स्थिर रहनेवाला कार्य था सब प्रकार के जातीय और वर्ग-भेद का उन्मूलन। वह केवल बंगाली ही नहीं थे। उन्होंने अपने आपको कभी सवर्ण हिंदू नहीं समझा। वह आमूलचूल भारतीय थे। इससे अधिक क्या कि उन्होंने अपने अनुगामियों में भी यही आग प्रज्वलित की, जिससे प्रेरित होकर वे उनकी उपस्थिति में सभी भेदभाव भूल गये थे और एक-सूत्र होकर काम करते थे।[1]

... ...

एक बात और। वह यह कि जो आज़ाद हिंद फौज सुभाष-बाबू ने बनाई थी और उसके लिए हम सब सुभाषबाबू की होशि-यारी, बहादुरी की तारीफ करते हैं और तारीफ करने की बात है; क्योंकि जब वह हिंदुस्तान से बाहर था तब उसने सोचा कि चलो, थोड़ा फौजी काम भी कर लूं। वह कोई लड़वैया तो था नहीं। एक मामूली हिंदुस्तानी था। जैसे दूसरे वकील, बैरिस्टर रहते हैं वैसे सुभाषबाबू भी थे। फौज की कोई तालीम तो पाई नहीं थी। हां, सिविल सर्विस में जैसा आमतौर पर होता है, थोड़ी घुड़सवारी

---

[1] 'नेताजी, हिज लाइफ एण्ड वर्क'

सीख ली होगी। लेकिन पीछे उन्होंने फौजी-शास्त्र थोड़ा पढ़ लिया होगा। इस प्रकार उनके मातहत जो सेना बनी थी, मैं सुनता हूं कि उसके दो बड़े अफसर, जिनसे मैं जेल में तथा उसके बाहर भी मिला था, काश्मीर पर हमला करनेवालों से मिले हुए हैं। यह मुझको बहुत चुभता है। ये सुभाषबाबू के मातहत खास काम करनेवाले थे और हमेशा उनके साथ रहा करते थे। सुभाषबाबू लश्कर से कोई बात छिपाकर रख तो सकते नहीं थे; क्योंकि उन्हें उनके मारफत काम लेना पड़ता था। वे आज लुटेरों के सरदार होकर आते हैं तो मुझको चुभता है। अगर उनको अखबार मिलते हैं या जो मैं कहता हूं उसको वे सुन लें तो मैं अपनी यह नाकिस आवाज उनको पहुंचाता हूं कि आप इसमें क्यों पड़ते हैं और सुभाषबाबू के नाम को क्यों डुबाते हैं? आप ऐसा क्यों करते हैं कि हिंदू का पक्ष लें या मुसलमान का पक्ष लें? आपको तो जाति-भेद करना नहीं चाहिए। सुभाषबाबू तो ऐसे थे नहीं। उनके साथ हिंदू, मुसलमान, सिख, पारसी, ईसाई, हरिजन आदि सब रहते थे। वहां न हरिजन का भेद था, न इतरजन का। वहां तो हिंदुस्तानियों में जात-पांत का कोई भेदभाव था ही नहीं। यों तो सब अपने धर्म पर कायम थे, कोई धर्म तो छोड़ बैठे थे नहीं। लेकिन सुभाषबाबू ने कब्जा कर लिया था, उनके चित्त का हरण कर लिया था, शरीर का हरण नहीं किया था। ऐसा तो चलता नहीं था कि अगर आज़ाद हिंद फौज में शामिल नहीं होता है तो काटो। लोगों को इस तरह काटकर वह हिंदुस्तान को रिहाई दिलाने वाले नहीं थे। इस तरह से बड़े हुए और बड़प्पन पाया। तब आप इतने छोटे क्यों बनते हैं और इस छोटे काम में क्यों पड़ते हैं? अगर कुछ करना ही है तो सारे हिंदुस्तान के लिए करो। वहां जो मुसलमान हैं, अफरीदी हैं, उनको कहें कि यह जाहिलपन क्यों करना? लोगों को लूटना और देहातों को जलाना क्या? चलो, महाराजा से मिलें, शेख अब्दुल्ला से मिलें, उनको चिट्ठी लिखें कि हम आपसे मिलना चाहते हैं, हम यहां कोई लूट करने

तो आये नहीं हैं। आप इस्लाम को दबाते हैं, इसलिए आपको बताने आये हैं। यह तो मैं समझ सकता हूं। तब तो आप सुभाष-बाबू का नाम उज्ज्वल करेंगे और उन अफरीदी लोगों के सच्चे शिक्षक बनेंगे। अफरीदी लोग कैसे रहते हैं, उनमें भी लुटेरे हैं या नहीं हैं, यह मैं नहीं जानता हूं। लेकिन मेरी निगाह में वे भी इन्सान हैं। उनके दिल में भी वही ईश्वर या खुदा है, इसलिए वे सब मेरे भाई हैं। अगर मैं उनमें रहूं तो उनसे कहूंगा कि लूट क्या करना, एक-दूसरे पर गुस्सा क्या करना! मैं यह तो कहता नहीं कि तुम्हारे पास जो बंदूकें या तलवारें हैं, उन्हें छोड़ दो। उनको रखो; लेकिन जो दूसरे लोग डरे हुए हैं, मुफलिस हैं, औरतें हैं, बच्चे हैं, उनको बचाने के लिए। उसमें क्या है, चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान। तो मैं कहूंगा कि ये जो दो अफसर हैं, जिनका नाम मैंने सुन लिया है, वे सुभाषबाबू का नाम याद करें। वे तो मर गये, लेकिन उनका नाम नहीं मरा, काम तो नहीं मरा।[1]

... ...

. . . आज सुभाषबाबू की जन्म-तिथि है। मैंने कह दिया है कि मैं तो किसीकी जन्म-तिथि या मृत्यु-तिथि याद नहीं रखता। वह आदत मेरी नहीं है। सुभाषबाबू की तिथि की मुझे याद दिलाई गई। उससे मैं राजी हुआ। उसका भी एक खास कारण है। वह हिंसा के पुजारी थे। मैं अहिंसा का पुजारी हूं। पर इसमें क्या? मेरे पास गुण की ही कीमत है। तुलसीदासजी ने कहा है न,

"जड़-चेतन गुण-दोषमय विश्व कीन्ह करतार।
संत-हंस गुण गहहिं पय परिहरि बारि विकार॥"

हंस जैसे पानी को छोड़कर दूध ले लेता है, वैसे ही हमें भी करना चाहिए। मनुष्य-मात्र में गुण और दोष दोनों भरे पड़े हैं। हमें गुणों को ग्रहण करना चाहिए। दोषों को भूल जाना चाहिए। सुभाषबाबू बड़े देश-प्रेमी थे। उन्होंने देश के लिए अपनी जान

---

[1] प्रार्थना-प्रवचन, २-११-४७

की बाजी लगा दी थी और वह करके भी बता दिया। वह सेनापति बने। उनकी फौज में हिंदू, मुसलमान, पारसी, सिख सब थे। सब बंगाली ही थे, ऐसा भी नहीं था। उनमें न प्रांतीयता थी, न रंग-भेद, न जाति-भेद। वह सेनापति थे, इसलिए उन्हें ज्यादा सहूलियत लेनी या देनी चाहिए, ऐसा भी नहीं था।[१]

: २० :

मदनमोहन मालवीय

जब से १९१५ में हिंदुस्तान आया तब से मेरा मालवीयजी के साथ बहुत समागम है और मैं उन्हें अच्छी तरह जानता हूं। मेरा उनके साथ गहरा परिचय रहता है। उन्हें मैं हिंदू-संसार के श्रेष्ठ व्यक्तियों में मानता हूं। कट्टर और पुराने खयालात के होते हुए भी बड़े उदार विचार रखते हैं। उनका किसीसे ईर्ष्या रखना असंभव है। उनकी उदारता ऐसी है कि उसमें उनके दुश्मनों के लिए भी जगह है। कभी उन्हें शासन की चाह न रही और जो शासन आज उनके पास है वह उनकी मातृभूमि की आज तक की लंबी और अखंड सेवा का फल है। ऐसी सेवा का दावा हममें से बहुत कम लोग कर सकते हैं। उनकी और मेरी विशेषता अलग-अलग है, लेकिन हम दोनों एक दूसरे को सगे भाई-सा प्यार करते हैं। मेरे और उनके बीच कभी जरा भी बिगाड़ नहीं हुआ। हमारे रास्ते जुदे-जुदे हैं। इसलिए हमारे बीच स्पर्धा और डाह का सवाल पैदा ही नहीं हो सकता।[२]

... ...

··· आशावाद और भोलेपन में मैं भेद करता हूं। पंडितजी

---

[१] प्रार्थना-प्रवचन २३-१-४८,

[२] हिंदी नवजीवन १-६-२४,

में दोनों हैं। दृष्टिमर्यादा पर निराशा के चिन्ह होते हुए भी और जानते हुए भी जो आशा रखता है वह आशावादी है। यह गुण पंडितजी में काफी मात्रा में है। आशा की बातें कोई कह दे और उसपर विश्वास लाना वह भोलापन है। यह भी पंडितजी में है। उसे मैं त्याज्य समझता हूं। पंडितजी महान व्यक्ति हैं, इसलिए उनको ऐसे भोलेपन से हानि नहीं हुई है। हमें ऐसे भोलेपन का अनुकरण कभी नहीं करना चाहिए। आशावाद अंतर्नाद पर निर्भर है, भोलापन बाह्य बातों पर।[1]

... ...

··· देश के सार्वजनिक जीवन को उनकी बहुत बड़ी देन है। उनका सबसे बड़ा कार्य हिंदू विश्वविद्यालय, बनारस है। इस विद्यालय के प्रेम से हमें हार्दिक प्रेम है। महामना मालवीयजी ने उसके लिए जब कभी मेरी सेवाएं चाही हैं, मैंने दी हैं।

··· मालवीयजी महाराज के साथ मेरा कितना गाढ़ संबंध है। अगर उनका कोई काम मुझसे हो सकता है तो मुझे उसका अभिमान रहता है और अगर मैं उसे कर सकूं तो अपनेको कृतार्थ समझता हूं। यहां आना मेरे लिए तो एक तीर्थ में आने के समान है।

यह विश्वविद्यालय मालवीयजी महाराज का सबसे बड़ा और प्राण-प्रिय कार्य है। उन्होंने हिंदुस्तान की बहुत-बहुत सेवाएं की हैं, इससे आज कोई इंकार नहीं कर सकता। लेकिन मेरा अपना खयाल यह है कि उनके महान् कार्यों में इस कार्य का महत्व सबसे ज्यादा रहेगा। २५ साल पहले, जब इस विश्वविद्यालय की नींव डाली गई थी, तब भी मालवीयजी महाराज के आग्रह और खिचाव से मैं यहां आ पहुंचा था। उस समय तो मैं यह सोच भी न सकता था कि जहां बड़े-बड़े राजा-महाराजा और खुद वाइसराय आनेवाले हैं, वहां मुझ-जैसे फकीर की क्या जरूरत हो सकती है। तब तो मैं 'महात्मा' भी नहीं बना था।

---

[1] महादेवभाई की डायरी, २७-५-३२

उस समय भी मालवीयजी महाराज की कृपा-दृष्टि मुझपर थी। कहीं भी कोई सेवक हो, वह उसे ढूंढ़ निकालते हैं और किसी-न-किसी तरह अपने पास खींच ही लाते हैं। यह उनका सदा का धंधा है।

लोग मालवीयजी महाराज की बड़ी प्रशंसा करते हैं। वह सब तरह उसके लायक हैं। मैं जानता हूं कि हिंदू विश्वविद्यालय का कितना बड़ा विस्तार है। संसार में मालवीय-जी से बढ़कर कोई भिक्षुक नहीं। जो काम उनके सामने आ जाता है, उसके लिए—अपने लिए नहीं—उनकी भिक्षा की झोली का मुंह हमेशा खुला रहता है। वह हमेशा मांगा ही करते हैं, और परमात्मा की भी उनपर बड़ी दया है कि जहां जाते हैं, उन्हें पैसे मिल ही जाते हैं, तिसपर भी उनकी भूख कभी नहीं बुझती। उनका भिक्षापात्र सदा खाली रहता है। उन्होंने विश्वविद्यालय के लिए एक करोड़ इकट्ठा करने की प्रतिज्ञा की थी। एक करोड़ की जगह डेढ़ करोड़ दस लाख रुपया इकट्ठा हो गया, मगर उनका पेट नहीं भरा। अभी-अभी उन्होंने मुझसे कान में कहा है कि आज के हमारे सभापति महाराज साहब दरभंगा ने उनको एक खासी बड़ी रकम दान में और दी है।

मैं जानता हूं कि मालवीयजी महाराज स्वयं किस तरह रहते हैं। यह मेरा सौभाग्य है कि उनके जीवन का कोई पहलू मुझसे छिपा नहीं। उनकी सादगी, उनकी सरलता, उनकी पवित्रता और उनके प्रेम से मैं भली-भांति परिचित हूं। उनके इन गुणों में से आप जितना कुछ ले सकें, जरूर लें। विद्यार्थियों के लिए तो उनके जीवन की बहुतेरी बातें सीखने लायक हैं। मगर मुझे डर है कि उन्होंने, जितना सीखना चाहिए, सीखा नहीं है। यह आपका और हमारा दुर्भाग्य है। इसमें उनका कोई कसूर नहीं। धूप में रहकर भी कोई सूरज का तेज न पा सके तो उसमें सूरज बेचारे का क्या दोष ? वह तो अपनी तरफ से सबको गर्मी पहुंचाता रहता है, पर अगर कोई उसे लेना ही न चाहे और ठंड में रहकर

ठिठुरता फिरे तो सूरज भी उसके लिए क्या करे ? मालवीयजी महाराज के इतने निकट रहकर भी अगर आप उनके जीवन से सादगी, त्याग, देशभक्ति, उदारता और विश्वव्यापी प्रेम आदि सद्‌गुणों का अपने जीवन में अनुकरण न कर सकें तो कहिये, आप से बढ़कर अभागा और कौन होगा ?[1]

... ...

· · · अंग्रेजी में एक कहावत है—'राजा गया, राजा हमेशा जियो !' ठीक यही भारत-भूषण मालवीयजी महाराज के लिए कहा जा सकता है—"मालवीयजी गये, मालवीयजी अमर हों !" मालवीयजी हिंदुस्तान के लिए पैदा हुए और हिंदुस्तान के लिए किये गये अपने कामों में जीते हैं। उनके काम बहुत हैं। बहुत बड़े हैं। उनमें सबसे बड़ा हिंदू-विश्वविद्यालय है । गलती से उसे हम बनारस हिंदू युनिवर्सिटी के नाम से पहचानते हैं। उस नाम के लिए दोष मालवीयजी महाराज का नहीं, उनके पैरोकारों का रहा है। मालवीयजी महाराज दासानुदास थे। दास लोग जैसा करते थे, वैसा वह करने देते थे। मुझे पता है कि यह अनुकूलता उनके स्वभाव में भरी थी, यहांतक कि बाज दफा वह दोष का रूप लेलेती थी, लेकिन 'समरथ को नहिं दोष गुसाईं' वाली बात मालवीयजी महाराज के बारे में भी कही जा सकती है । उनका प्रिय नाम तो हिंदू विश्व-विद्यालय ही था और यह सुधार तो अब भी करने योग्य है। इस विश्वविद्यालय का हरेक पत्थर शुद्ध हिंदू-धर्म का प्रतिबिंब होना चाहिए। एक भी मकान पश्चिम के जड़वाद की निशानी न हो, बल्कि अध्यात्म की निशानी हो। और जैसे मकान हों, वैसे ही शिक्षक और विद्यार्थी भी हों। आज हैं ? प्रत्येक विद्यार्थी शुद्ध धर्म की जीवित प्रतिमा है ? नहीं है तो, क्यों नहीं है ? इस विश्वविद्यालय की परीक्षा विद्यार्थियों की संख्या से नहीं, बल्कि उनके हिंदू-धर्म की प्रतिमा होने से ही हो सकती है, फिर भले वे थोड़े ही क्यों न हों।

---

[1] हरिजन सेवक, २१-१-४२

मैं जानता हूं कि यह काम कठिन है, लेकिन यही इस विद्यालय की जड़ है। अगर यह ऐसा नहीं है, तो कुछ नहीं है। इसलिए स्वर्गीय मालवीयजी के पुत्रों का और उनके अनुयायियों का धर्म स्पष्ट है। जगत में हिंदू-धर्म का क्या स्थान है? उसमें आज क्या दोष हैं? वे कैसे दूर किये जा सकते हैं? मालवीयजी महाराज के भक्तों का कर्त्तव्य है कि वे इन प्रश्नों को हल करें। मालवीयजी अपनी स्मृति छोड़ गये हैं। उसको स्थायी रूप देना, उसका विकास करना, उनका श्रेष्ठ स्मृति-स्तंभ होगा।

विश्वविद्यालय के लिए स्व० मालवीयजी ने काफी द्रव्य इकट्ठा किया था, लेकिन बाकी भी काफी रहा है। इस काम में तो हरेक आदमी हाथ बंटा सकता है।

यह तो हुई उनकी बाह्य प्रवृत्ति। उनका आंतरिक जीवन विशुद्ध था। वह दया के भंडार थे। उनका शास्त्रीय ज्ञान बड़ा था। भागवत उनकी प्रिय पुस्तक थी। वह सजग कथाकार थे। उनकी स्मरण-शक्ति तेजस्विनी थी। जीवन शुद्ध था, सादा था।

उनकी राजनीति को और दूसरी अनेक प्रवृत्तियों को छोड़ देता हूं। जिन्होंने अपना सारा जीवन सेवा के लिए अर्पित किया था और जो अनेक विभूतियां रखते थे, उनकी प्रवृत्ति की मर्यादा हो नहीं सकती। मैंने तो उनमें से चिरस्थायी चीजें ही देने का संकल्प किया था। जो लोग विश्वविद्यालय को शुद्ध बनाने में मदद देना चाहते हैं, वे मालवीयजी महाराज के अंतर्जीवन के मनन और अनुसरण करने की कोशिश करें।[1]

: २१ :

श्रीमद् राजचंद्रभाई

... मैं जिनके पवित्र संस्मरण लिखना आरंभ करता हूं,

[1] हरिजन सेवक, ८-१२-४६

उन स्वर्गीय राजचंद्र की आज जन्मतिथि है। कार्तिक पूर्णिमा संवत् १९७९ को उनका जन्म हुआ था।

मेरे जीवन पर श्रीमद्‌राजचंद्र भाई का ऐसा स्थायी प्रभाव पड़ा है कि मैं उसका वर्णन नहीं कर सकता। उनके विषय में मेरे गहरे विचार हैं। मैं कितने ही वर्षों से भारत में धार्मिक पुरुषों की शोध में हूं, परंतु मैंने ऐसा धार्मिक पुरुष भारत में अबतक नहीं देखा, जो श्रीमद् राजचंद्रभाई के साथ प्रतिस्पर्धा कर सके। उनमें ज्ञान, वैराग्य और भक्ति थी, ढोंग, पक्षपात या राग-द्वेष न थे। उनमें एक ऐसी महान् शक्ति थी, जिसके द्वारा वह प्राप्त हुए प्रसंग का पूर्ण लाभ उठा सकते थे। उनके लेख अंग्रेज तत्व-ज्ञानियों की अपेक्षा भी विलक्षण, भावनामय और आत्मदर्शी हैं। यूरोप के तत्व-ज्ञानियों में मैं टाल्स्टाय को पहली श्रेणी का और रस्किन को दूसरी श्रेणी का विद्वान् समझता हूं, परंतु श्रीमद् राजचंद्रभाई का अनुभव इन दोनों से भी बढ़ा-चढ़ा था। इन महापुरुषों के जीवन के लेखों को अवकाश के समय पढ़ेंगे तो आप पर उनका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ेगा। वह प्रायः कहा करते थे कि मैं किसी बाड़े का नहीं हूं और न किसी बाड़े में रहना ही चाहता हूं। यह सब तो उपधर्म —मर्यादित—हैं और धर्म तो असीम है कि जिसकी व्याख्या हो ही नहीं सकती। वह अपने जवाहरात के धंधे से विरक्त होते कि तुरंत पुस्तक हाथ में लेते। यदि उनकी इच्छा होती तो उनमें ऐसी शक्ति थी कि वही एक अच्छे प्रतिभाशाली बैरिस्टर, जज या वाइसराय हो सकते थे। यह अतिशयोक्ति नहीं, किंतु मेरे मन पर उनकी छाप है। इनकी विचक्षणता दूसरे पर अपनी छाप लगा देती थी।

जिनका पुण्य-स्मरण करने के लिए हम लोग आये हुए हैं, उनके हम लोग पुजारी हैं। मैं भी उनका पुजारी हूं।

वह दयाधर्म की मूर्ति थे। उन्होंने दयाधर्म समझा था और उसे अपने जीवन में उतारा था। मैंने यह बहुत बार कहा और लिखा है कि मैंने अपने जीवन में बहुतों से बहुत-कुछ ग्रहण किया है। पर

सबसे अधिक यदि मैंने किसीके जीवन में से ग्रहण किया हो तो वह कविश्री (श्रीमद्राजचंद्र) के जीवन में से ग्रहण किया है। दया-धर्म भी मैंने उन्हींके जीवन में से सीखा है।

बहुत-से प्रसंगों में तो हमें जड़ होकर वैसी ही प्रवृत्ति करनी चाहिए। शुद्ध जड़ और चैतन्य में भेद नहीं के बराबर है। सारा जगत जड़ रूप ही दीख पड़ता है। आत्मा तो कभी क्वचित् ही प्रकाशित होता है। ऐसा व्यवहार अलौकिक पुरुषों का होता है और यह मैंने देखा है कि ऐसा व्यवहार श्रीमद्राजचंद्रभाई का था।

वह बहुत बार कहा करते थे कि मेरे शरीर में चारों ओर से कोई बरछी भोंक दे तो मै उसे सह सकता हूं, पर जगत में जो झूठ, पाखंड, अत्याचार चल रहा है, धर्म के नाम से जो अधर्म हो रहा है उसकी बरछी मुझसे सही नहीं जाती। अत्याचारों से उन्हें अकुलाते मैंने बहुत बार देखा है। वह सारे जगत को अपने कुटुंब के जैसा समझते थे। अपने भाई या बहन की मौत से जितना दुःख हमें होता है उतना ही दुख उन्हें संसार में दुःख और मृत्यु देखकर होता था। . . .

राजचंद्रभाई का शरीर जो इतनी छोटी उम्र में छूट गया, इसका कारण भी मुझे यही जान पड़ता है। यह ठीक है कि उनके शरीर में दर्द घर किये हुए था, पर जगत के ताप का जो दर्द उन्हें था, वह उनके लिए असह्य था। उनके देह में केवल शारीरिक दर्द ही होता तो उसे उन्होंने अवश्य जीत लिया होता, पर उन्हें तो जान पड़ा कि ऐसे विषम काल में आत्म-दर्शन कैसे हो सकता है। यह दया-धर्म की निशानी है। [1]

... ...

श्रीमद्राजचंद्र को मै 'रायचंद्रभाई' अथवा 'कवि' कहकर प्रेम और मानपूर्वक संबोधन करता था। उनके संस्मरण लिखकर उनका रहस्य मुमुक्षुओं के समक्ष रखना मुझे अच्छा लगता है।

---

[1] **राजचंद्र-जयंती, अहमदाबाद में सभापति-पद से दिया गया भाषण**

मुमुक्षु शब्द का मैंने यहां जान-बूझकर प्रयोग किया है। सब प्रकार के पाठकों के लिए यह प्रयास नहीं।

मेरे ऊपर तीन पुरुषों ने गहरी छाप डाली है : टाल्स्टाय, रस्किन और रायचंद्रभाई। टाल्स्टाय ने अपनी पुस्तकों द्वारा और उनके साथ थोड़े पत्र-व्यवहार से, रस्किन ने अपनी एक ही पुस्तक 'अनटु दिस लास्ट' से, जिसका गुजराती नाम मैंने 'सर्वोदय' रखा है और रायचंद्रभाई ने अपने साथ गाढ़ परिचय से। जब मुझे हिंदू-धर्म में शंका पैदा हुई उस समय उसके निवारण करने में मदद करनेवाले रायचंद्रभाई थे। सन् १८९३ में दक्षिण अफ्रीका में मैं क्रिश्चियन सज्जनों के विशेष संपर्क में आया। उनका जीवन स्वच्छ था। वे चुस्त धर्मात्मा थे। अन्य धर्मियों को क्रिश्चियन होने के लिए समझाना उनका मुख्य व्यवसाय था। यद्यपि मेरा और उनका संबंध व्यावहारिक कार्य को लेकर ही हुआ था तो भी उन्होंने मेरी आत्मा के कल्याण के लिए चिंता करना शुरू कर दिया। उस समय मैं अपना एक ही कर्त्तव्य समझ सका कि जबतक मैं हिंदू-धर्म के रहस्य को पूरी तौर से न जान लूं और उससे मेरी आत्मा को संतोष न हो-जाय तबतक मुझे अपना कुलधर्म कभी न छोड़ना चाहिए। इसलिए मैंने हिंदू-धर्म और अन्य धर्मों की पुस्तकें पढ़ना शुरू कर दीं। क्रिश्चियन और मुसलमानी पुस्तकें पढ़ीं। विलायत के अंग्रेज मित्रों के साथ पत्र-व्यवहार किया। उनके समक्ष अपनी शंकाएं रखीं तथा हिंदुस्तान में जिन के ऊपर मुझे कुछ भी श्रद्धा थी पत्र-व्यवहार किया। उनमें रायचंद्र भाई मुख्य थे। उनके साथ तो मेरा अच्छा संबंध हो चुका था। उनके प्रति मान भी था। इसलिए जो मिल सके उनसे लेने का मैंने विचार किया। उसका फल यह हुआ कि मुझे शांति मिली। हिंदू-धर्म में मुझे जो चाहिए वह मिल सकता है, ऐसा मन को विश्वास हुआ। मेरी इस स्थिति के जवाबदार रायचंद्रभाई हुए। इससे मेरा उनके प्रति कितना अधिक मान होना चाहिए, इसका पाठक कुछ अनुमान कर सकते हैं।

इतना होने पर भी मैंने उन्हें धर्मगुरु नहीं माना। धर्मगुरु की तो मैं खोज किया ही करता हूं। और अबतक मुझे सबके विषय में यही जवाब मिला है कि ये नहीं। ऐसा संपूर्ण गुरु प्राप्त करने के लिए तो अधिकार चाहिए। वह मैं कहां से लाऊं?

... ...

रायचंद्रभाई के साथ मेरी भेंट जुलाई सन् १८९१ में उस दिन हुई जब मैं विलायत से बंबई वापस आया। इन दिनों समुद्र में तूफान आया करता है, इस कारण जहाज रात को देरी से पहुंचा। मैं डाक्टर—बैरिस्टर—और अब रंगून के प्रख्यात झवेरी प्राणजीवनदास मेहता के घर उतरा था। रायचंद्रभाई उनके बड़े भाई के जमाई होते थे। डाक्टरसाहब ने ही परिचय कराया। उनके दूसरे बड़े भाई झवेरी रेवाशंकर जगजीवनदास की पहचान भी उसी दिन हुई। डाक्टरसाहब ने रायचंद्रभाई का 'कवि' कहकर परिचय कराया और कहा, "कवि होते हुए भी आप हमारे साथ व्यापार में हैं। आप ज्ञानी और शतावधानी हैं।" किसीने सूचना की कि मैं उन्हें कुछ शब्द सुनाऊं और वे शब्द चाहे किसी भी भाषा के हों, जिस क्रम से मैं बोलूंगा उसी क्रम से वे दुहरा जावेंगे। मुझे यह सुनकर आश्चर्य हुआ। मैं तो उस समय विलायत से लौटा था। मुझे भाषा-ज्ञान का भी अभिमान था। मुझे विलायत की हवा भी कुछ कम न लगी थी। उन दिनों विलायत से आया मानों आकाश से उतरा। मैंने अपना समस्त ज्ञान उलट दिया। और अलग-अलग भाषाओं के शब्द पहले तो मैंने लिख लिये; क्योंकि मुझे वह क्रम कहां याद रहनेवाला था और बाद में उन शब्दों को मैं बांच गया। उसी क्रम से रायचंद्रभाई ने धीरे-से एक के बाद एक सब शब्द कह सुनाये। मैं संतुष्ट हुआ, चकित हुआ और कवि की स्मरण-शक्ति के विषय में मेरा उच्च विचार हुआ। विलायत की हवा कम पड़ने के लिए कहा जा सकता है कि यह सुंदर अनुभव हुआ।

कवि को अंग्रेजी का ज्ञान बिल्कुल न था। उस समय उनकी उमर पच्चीस से अधिक न थी। गुजराती पाठशाला में भी उन्होंने

थोड़ा ही अभ्यास किया था। फिर भी इतनी शक्ति, इतना ज्ञान और आस-पास से इतना उनका मान! इससे मैं मोहित हुआ। स्मरण-शक्ति पाठशाला में नहीं बिकती और ज्ञान भी पाठशाला के बाहर, यदि इच्छा हो—जिज्ञासा हो—तो मिलता तथा मान पाने के लिए विलायत अथवा कहीं भी नही जाना पड़ता, परंतु गुण को मान चाहिए तो मिलता है—यह पदार्थ पाठ मुझे बंबई उतरते ही मिला।

कवि के साथ यह परिचय बहुत आगे बढ़ा। स्मरण-शक्ति बहुत लोगों की तीव्र होती है, इसमें आश्चर्य की कुछ बात नहीं। शास्त्र-ज्ञान भी बहुतों में पाया जाता है, परंतु यदि वे लोग संस्कारी न हों तो उनके पास फूटी कौड़ी भी नहीं मिलती। जहां संस्कार अच्छे होते हैं वहीं स्मरण-शक्ति और शास्त्र-ज्ञान संबंध शोभित होता है और जगत को शोभित करता है। कवि संस्कारी ज्ञानी थे।

अपूर्व अवसर एवो क्या रे आवशे,
क्या रे थईशुं बाह्यांतर निर्ग्रंथ जो।
सर्व संबंधनु बंधन तीक्ष्ण छेदीने,
विचरशुं कब महत्पुरुषने पंथ जो॥
सर्व भाव थी ओदासीन्य वृत्ति करी,
मात्र देश ते संयमहेतु होय जो॥
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहि,
देहे पण किंचित् मूर्छा नव जोय जो...॥अपूर्व॥

रायचंद्रभाई की १८ वर्ष की उमर के निकले हुए अपूर्व उद्गारों की ये पहली दो कड़ियां हैं।

जो वैराग्य इन कड़ियों में छलक रहा है, वह मैंने उनके दो वर्ष के गाढ़ परिचय से प्रत्येक क्षण में देखा है। उनके लेखों की एक असाधारणता यह है कि उन्होंने स्वयं जो अनुभव किया वही लिखा है। उसमें कहीं भी कृत्रिमता नहीं। दूसरे के ऊपर छाप

डालने के लिए उन्होंने एक लाइन भी लिखी हो, यह मैंने नहीं देखा। उनके पास हमेशा कोई-न-कोई धर्म-पुस्तक और एक कोरी कापी पड़ी ही रहती थी। इस कापी में वह अपने मन में जो विचार आते उन्हें लिख लेते थे। ये विचार कभी गद्य में और कभी पद्य में होते थे। इसी तरह 'अपूर्व अवसर' आदि पद भी लिखा हुआ होना चाहिए।

खाते, बैठते, सोते और प्रत्येक क्रिया करते हुए उनमें वैराग्य तो होता ही था। किसी समय उन्हें इस जगत् के किसी भी वैभव पर मोह हुआ हो, यह मैंने नहीं देखा।

उनका रहन-सहन मैं आदरपूर्वक परंतु सूक्ष्मता से देखता था। भोजन में जो मिले वह उसीसे संतुष्ट रहते थे। उनकी पोशाक सादी थी। कुर्त्ता, अंगरखा, खेस, सिल्क का दुपट्टा और धोती, यही उनकी पोशाक थी तथा ये भी कुछ-बहुत साफ या इस्तरी किये हुए रहते हों, यह मुझे याद नहीं। जमीन पर बैठना और कुरसी पर बैठना, उन्हें दोनों ही समान थे। सामान्य रीति से दुकान में वह गद्दी पर बैठते थे।

उनकी चाल धीमी थी और देखनेवाला समझ सकता था कि चलते हुए भी वह अपने विचार में मग्न हैं। आंखों में उनके चमत्कार था। वह अत्यंत तेजस्वी थे। विह्वलता जरा भी न थी। आंखों में एकाग्रता चित्रित थी। चेहरा गोलाकार, होंठ पतले, नाक न नोकदार न चपटी, शरीर दुर्बल, कद मध्यम, वर्ण श्याम और देखने में वे शांतिमूर्ति थे। उनके कंठ में इतना अधिक माधुर्य था कि उन्हें सुननेवाले थकते न थे। उनका चेहरा हँसमुख और प्रफुल्लित था। उसके ऊपर अंतरानंद की छाया थी। भाषा उनकी इतनी परिपूर्ण थी कि उन्हें अपने विचार प्रकट करते समय कभी कोई शब्द ढूंढ़ना पड़ा हो, यह मुझे याद नहीं। पत्र लिखने बैठते तो शायद ही शब्द बदलते हुए मैंने उन्हें देखा होगा। फिर भी पढ़नेवाले को यह न मालूम होता था कि कहीं विचार अपूर्ण हैं अथवा वाक्य-रचना त्रुटि-पूर्ण है, अथवा शब्दों के चुनाव में कमी है।

यह वर्णन संयमी के विषय में संभव है। बाह्याडंबर से मनुष्य वीतरागी नहीं हो सकता। वीतरागता आत्मा की प्रसादी है। यह अनेक जन्मों के प्रयत्नों से मिल सकती है, ऐसा हर मनुष्य अनुभव कर सकता है। रागों को निकालने का प्रयत्न करनेवाला जानता है कि राग-रहित होना कितना कठिन है। यह राग-रहित दशा कवि की स्वाभाविक थी, ऐसी मेरे ऊपर छाप पड़ी थी।

मोक्ष की प्रथम सीढ़ी वीतरागता है। जबतक जगत की एक भी वस्तु में मन रमा है तबतक मोक्ष की बात कैसे अच्छी लग सकती है, अथवा अच्छी लगती भी हो तो केवल कानों को ही, ठीक वैसे ही जैसे कि हमें अर्थ के समझे बिना किसी संगीत का केवल स्वर ही अच्छा लगता है। ऐसी केवल कर्णप्रिय क्रीड़ा में से मोक्ष का अनुसरण करनेवाले आचरण के आने में बहुत समय बीत जाता है। आंतर वैराग्य के बिना मोक्ष की लगन नहीं होती। ऐसे वैराग्य की लगन कवि में थी।

... ...

वणिक तेहनुं नाम जेह जूठूं नव बोले,
वणिक तेहनुं नाम, तोल ओछुं नव तोले,
वणिक तेहनुं नाम बापे बोल्युं तेपाले,
वणिक तेहनुं नाम व्याजसहित धन वाले,
विवेक तोल ए वणिकनुं सुलतान तोल ए शाव छे,
बेपार चूके जो वाणीओ दुःख दावानल थाय छे।

—सामल भट्ट

सामान्य मान्यता ऐसी है कि व्यवहार अथवा व्यापार और परमार्थ अथवा धर्म ये दोनों अलग-अलग विरोधी वस्तुएं हैं। व्यापार में धर्म को घुसेड़ना पागलपन है। ऐसा करने से दोनों बिगड़ जाते हैं। यह मान्यता यदि मिथ्या न हो तो अपने भाग्य में केवल निराशा ही लिखी है, क्योंकि ऐसी एक भी वस्तु नहीं, ऐसा एक भी व्यवहार नहीं जिससे हम धर्म को अलग रख सकें।

धार्मिक मनुष्य का धर्म उसके प्रत्येक कार्य में झलकना ही

चाहिए, यह रायचंद्रभाई ने अपने जीवन में बताया था। धर्म कुछ एकादशी के दिन ही, पर्यूषण में ही, ईद के दिन ही, या रविवार के दिन ही पालना चाहिए, अथवा उसका पालन मंदिरों में, देरासरों में और मस्जिदों में ही होता है और दूकान या दरबार में नहीं होता, ऐसा कोई नियम नहीं। इतना ही नहीं, परंतु यह कहना धर्म को न समझने के बराबर है, यह रायचंद्रभाई कहते, मानते और अपने आचार में बताते थे।

उनका व्यापार हीरे-जवाहरात का था। वह श्री रेवाशंकर जगजीवन झवेरी के साझी थे। साथ में वे कपड़े की दूकान भी चलाते थे। अपने व्यवहार में संपूर्ण प्रकार से वह प्रामाणिकता बताते थे, ऐसी उन्होंने मेरे ऊपर छाप डाली थी। वे जब सौदा करते तो मैं कभी अनायास ही उपस्थित रहता। उनकी बात स्पष्ट और एक ही होती थी। चालाकी सरीखी कोई वस्तु उनमें नहीं देखता था। दूसरे की चालाकी वह तुरंत ताड़ जाते थे। वह उन्हें असह्य मालूम होती थी। ऐसे समय उनकी भृकुटि भी चढ़ जाती और आंखों में लाली आ जाती, यह मैं देखता था।

धर्म-कुशल लोग व्यवहारकुशल नहीं होते, इस वहम को रायचंदभाई ने मिथ्या सिद्ध करके बताया था। अपने व्यापार में वह पूरी सावधानी और होशियारी बताते थे। हीरे-जवाहरात की परीक्षा वह बहुत बारीकी से कर सकते थे। यद्यपि अंग्रेजी का ज्ञान उन्हें न था, फिर भी पेरिस वगैरह के अपने आढ़तियों की चिट्ठियों और तारों के मर्म को वह फौरन समझ जाते थे और उनकी कला समझने में उन्हें देर न लगती। उनके जो तर्क होते थे, वे अधिकांश सच्चे ही निकलते थे।

इतनी सावधानी और होशियारी होने पर भी वह व्यापार की उद्विग्नता अथवा चिंता न रखते थे। दुकान में बैठे हुए भी जब अपना काम समाप्त हो जाता तो उनके पास पड़ी हुई धार्मिक पुस्तक अथवा कापी, जिसमें वह अपने उद्गार लिखते थे, खुल जाती थी। मेरे जैसे जिज्ञासु तो उनके पास रोज आते ही रहते थे और

उनके साथ धर्म-चर्चा करने में हिचकते न थे। 'व्यापार के समय में व्यापार और धर्म के समय में धर्म' अर्थात् एक समय में एक ही काम होना चाहिए, इस सामान्य लोगों के सुंदर नियम का कवि पालन न करते थे। वह शतावधानी होकर इसका पालन न करें तो यह हो सकता है, परंतु यदि और लोग उसका उल्लंघन करने भी लगें तो जैसे दो घोड़ों पर सवारी करनेवाला गिरता है, वैसे ही वे अवश्य गिरते। संपूर्ण धार्मिक और वीतरागी पुरुष भी जिस क्रिया को जिस समय करता हो, उसमें ही लीन हो जाय, यह योग्य है। इतना ही नहीं, बल्कि उसे यही शोभा देता है। यह उसके योग की निशानी है। इसमें धर्म है। व्यापार अथवा इसी तरह की जो कोई अन्य क्रिया करना हो तो उसमें भी पूर्ण एकाग्रता होनी ही चाहिए। अंतरंग में आत्मचिंतन तो मुमुक्षु में उसके श्वास की तरह सतत चलना ही चाहिए। उससे वह एक क्षण भी वंचित नहीं रहता। परंतु इस तरह आत्मचिंतन करते हुए भी जो कुछ वह बाह्य कार्य करता हो वह उसमें ही तन्मय रहता है।

मैं यह नहीं कहना चाहता कि कवि ऐसा न करते थे। ऊपर मैं कह चुका हूं कि अपने व्यापार में वह पूरी सावधानी रखते थे। ऐसा होने पर भी मेरे ऊपर ऐसी छाप जरूर पड़ी है कि कवि ने अपने शरीर से आवश्यकता से अधिक काम लिया है। यह योग की अपूर्णता तो नहीं हो सकती है यद्यपि कर्तव्य करते हुए शरीर तक भी समर्पण कर देना यह नीति है, परंतु शक्ति से अधिक बोझ उठा कर उसे कर्तव्य समझना यह राग है। ऐसा अत्यंत सूक्ष्म राग कवि में था, यह मुझे अनुभव हुआ है।

बहुत बार परमार्थ दृष्टि से मनुष्य शक्ति से अधिक काम लेता है और बाद में उसे पूरा करने में उसे कष्ट सहना पड़ता है। इसे हम गुण समझते हैं और इसकी प्रशंसा करते हैं। परंतु परमार्थ अर्थात् धर्म-दृष्टि से देखने से इस तरह किये हुए काम में सूक्ष्म मूर्छा का होना बहुत संभव है।

यदि हम इस जगत् में केवल निमित्तमात्र ही हैं, यदि यह

शरीर हमें भाड़े मिला है, और उस मार्ग से हमें तुरंत मोक्ष साधन करना चाहिए, यही परम कर्तव्य है, तो इस मार्ग में जो विघ्न आते हों उनका त्याग अवश्य ही करना चाहिए। यही पारमार्थिक दृष्टि है, दूसरी नहीं।

जो दलीलें मैंने ऊपर दी हैं, उन्हें ही किसी दूसरे प्रकार से रायचंदभाई अपनी चमत्कारिक भाषा में मुझे सुना गये थे। ऐसा होने पर भी उन्होंने ऐसी-वैसी उपाधियां उठाईं कि जिसके फल-स्वरूप उन्हें सख्त बीमारी भोगनी पड़ी।

रायचंदभाई को परोपकार के कारण मोह ने क्षण भर के लिए घेर लिया था, यदि मेरी यह मान्यता ठीक हो तो 'प्रकृतिं यांति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति' यह श्लोकार्थ यहां ठीक बैठता है और इसका अर्थ भी इतना ही है। कोई इच्छापूर्वक बर्ताव करने के लिए उपर्युक्त कृष्ण-वचन का उपयोग करते हैं, परंतु वह तो सर्वथा दुरुपयोग है। रायचंदभाई की प्रकृति उन्हें बलात्कार गहरे पानी में ले गई। ऐसे कार्य को दोषरूप से भी लगभग संपूर्ण आत्माओं में ही माना जा सकता है। हम सामान्य मनुष्य तो परो-पकारी कार्य के पीछे अवश्य पागल बन जाते हैं, तभी उसे कदाचित् पूरा कर पाते हैं।

यह भी मान्यता देखी जाती है कि धार्मिक मनुष्य इतने भोले होते हैं कि उन्हें सबकोई ठग सकता है। उन्हें दुनिया की बातों की कुछ भी खबर नहीं पड़ती। यदि यह बात ठीक है तो कृष्णचंद्र और रामचंद्र दोनों अवतारों को केवल संसारी मनुष्यों में ही गिनना चाहिए। कवि कहते थे कि जिसे शुद्ध ज्ञान है उसका ठगा जाना असंभव होना चाहिए। मनुष्य धार्मिक अर्थात् नीतिमान् होने पर भी कदाचित् ज्ञानी न हो, परंतु मोक्ष के लिए नीति और अनुभव ज्ञान का सुसंगम होना चाहिए। जिसे अनुभव-ज्ञान हो गया है, उसके पास पाखंड निभ ही नहीं सकता। सत्य के पास असत्य नहीं निभ सकता। अहिंसा के सान्निध्य में हिंसा बंद हो जाती है। जहां सरलता प्रकाशित होती है वहां छल-रूपी अंधकार नष्ट हो जाता

है। ज्ञानवान और धर्मवान यदि कपटी को देखे तो उसे फौरन पहचान लेता है और उसका हृदय दया से आर्द्र हो जाता है। जिसने आत्मा को प्रत्यक्ष देख लिया है वह दूसरे को पहचाने बिना कैसे रह सकता है। कोई-कोई धर्म के नाम पर उन्हें ठग भी लेते थे। ऐसे उदाहरण नियम की अपूर्णता सिद्ध नहीं करते, परंतु ये शुद्ध ज्ञान की ही दुर्लभता सिद्ध करते हैं।

इस तरह के अपवाद होते हुए भी व्यवहार-कुशलता और धर्मपरायणता का सुंदर मेल जितना मैंने कवि में देखा है उतना किसी दूसरे में देखने में नहीं आया।

... ...

रायचंदभाई के धर्म का विचार करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि धर्म का उन्होंने क्या स्वरूप समझाया था।

धर्म का अर्थ मतमतांतर नहीं। धर्म का अर्थ शास्त्रों के नाम से कही जानेवाली पुस्तकों को पढ़ जाना, कंठस्थ कर लेना अथवा उनमें जो कुछ कहा है, उसे मानना भी नहीं है।

धर्म आत्मा का गुण है और वह मनुष्य-जाति में दृश्य अथवा अदृश्य रूप से मौजूद है। धर्म से हम मनुष्य-जीवन का कर्तव्य समझ सकते हैं। धर्म द्वारा हम दूसरे जीवों के साथ अपना सच्चा संबंध पहचान सकते हैं। यह स्पष्ट है कि जबतक हम अपनेको न पहचान लें तबतक यह सब कभी भी नहीं हो सकता। इसलिए धर्म वह साधन है, जिसके द्वारा हम अपने-आपको स्वयं पहचान सकते हैं।

यह साधन हमें जहां-कहीं मिले, वहीं से प्राप्त करना चाहिए। फिर भले ही वह भारतवर्ष में मिले, चाहे यूरोप से आये या अरबस्तान से आये। इन साधनों का सामान्य स्वरूप समस्त धर्म-शास्त्रों में एक ही सा है। इस बात को वह कह सकता है जिसने भिन्न-भिन्न शास्त्रों का अभ्यास किया है। ऐसा कोई भी शास्त्र नहीं कहता कि असत्य बोलना चाहिए, अथवा असत्य आचरण करना चाहिए। हिंसा करना किसी भी शास्त्र में नहीं बताया। समस्त शास्त्रों का दोहन करते हुए शंकराचार्य ने कहा है, "ब्रह्म

सत्यं जगन्मिथ्या।" उसी बात को कुरानशरीफ में दूसरी तरह कहा है कि ईश्वर एक ही है और वही है, उसके बिना और दूसरा कुछ नहीं। बाइबिल में कहा है कि मैं और मेरा पिता एक ही हैं। ये सब एक ही वस्तु के रूपांतर हैं। परंतु इस एक ही सत्य के स्पष्ट करने में अपूर्ण मनुष्यों ने अपने भिन्न-भिन्न दृष्टि-बिंदुओं को काम में लाकर हमारे लिए मोह-जाल रच दिया है। उसमें से हमें बाहर निकलना है। हम अपूर्ण हैं और अपने से कम अपूर्ण की मदद लेकर आगे बढ़ते हैं और अंत में न जाने अमुक हृदय तक जाकर ऐसा मान लेते हैं कि आगे रास्ता ही नहीं है, परंतु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। अमुक हद के बाद शास्त्र मदद नहीं करते, परंतु अनुभव मदद करता है। इसलिए रायचंदभाई ने कहा है :

"ए पद श्रीसर्वज्ञे दीठुं ध्यानमां, कहीं शक्या नहीं ते पद श्रीभगवंत जो एह परमपद प्राप्तिनुं कर्युं ध्यानमें, गजावयर पण हाल मनोरथ रूप जो..."

इसलिए अंत में तो आत्मा को मोक्ष देनेवाली आत्मा ही है।

इस शुद्ध सत्य का निरूपण रायचंदभाई ने अनेक प्रकारों से अपने लेखों में किया है। रायचंदभाई ने बहुत-सी धर्म-पुस्तकों का अच्छा अभ्यास किया था। उन्हें संस्कृत और मागधी भाषा को समझने में जरा भी मुश्किल न पड़ती थी। उन्होंने वेदांत का अभ्यास किया था। इसी प्रकार भागवत और गीताजी का भी उन्होंने अभ्यास किया था। जैन-पुस्तकें तो जितनी भी उनके हाथ में आतीं, वह बांच जाते थे। उनके बांचने और ग्रहण करने की शक्ति अगाध थी। पुस्तक का एक बार का बांचन उन पुस्तकों के रहस्य जानने के लिए उन्हें काफी था। कुरान, जंदेअवस्ता आदि पुस्तकें भी वह अनुवाद के जरिए पढ़ गये थे।

वह मुझसे कहते थे कि उनका पक्षपात जैन-धर्म की ओर था। उनकी मान्यता थी कि जिनागम में आत्मज्ञान की पराकाष्ठा है, मुझे उनका यह विचार बता देना आवश्यक है।

परंतु रायचंदभाई का दूसरे धर्मों के प्रति अनादर न था, बल्कि

वेदांत के प्रति पक्षपात भी था। वेदांती को तो कवि वेदांती ही मालूम पड़ते थे। मेरे साथ चर्चा करते समय मुझे उन्होंने कभी भी यह नहीं कहा कि मुझे मोक्ष-प्राप्ति के लिए किसी खास धर्म का अवलंबन लेना चाहिए। मुझे अपना ही आचार-विचार पालने के लिए उन्होंने कहा। मुझे कौन-सी पुस्तकें बांचनी चाहिए, यह प्रश्न उठने पर, उन्होंने मेरी वृत्ति और मेरे बचपन के संस्कार देखकर मुझे गीताजी बांचने के लिए उत्तेजित किया और दूसरी पुस्तकों में पंचीकरण, मणिरत्नमाला, योगवासिष्ठ का वैराग्य प्रकरण, काव्य-दोहन पहला भाग, और अपनी मोक्षमाला बांचने के लिए कहा।

रायचंदभाई बहुत बार कहा करते थे कि भिन्न-भिन्न धर्म तो एक तरह के बाड़े हैं और उनमें मनुष्य घिर जाता है। जिसने मोक्ष-प्राप्ति ही पुरुषार्थ मान लिया है, उसे अपने माथे पर किसी भी धर्म का तिलक लगाने की आवश्यकता नहीं।

सूरत आवे त्यम तुं रहे, ज्यम त्यम करिने हरीने लहे ' ....

अर्थात्---जैसे सूत निकलता है वैसे ही तू रह! जैसे बने तैसे हरि को प्राप्त कर।

जैसे अखा का यह सूत्र था वैसे ही रायचंदभाई का भी था। धार्मिक झगड़ों से वे हमेशा ऊबे रहते थे। उनमें वह शायद ही कभी पड़ते थे। वह समस्त धर्मों की खूबियां पूरी तरह से देखते और उन्हें उन धर्मावलंबियों के सामने रखते थे। दक्षिण अफ्रीका के पत्र-व्यवहार में भी मैंने यही वस्तु उनसे प्राप्त की।

मैं स्वयं तो यह माननेवाला हूं कि धर्म उस धर्म के भक्तों की दृष्टि से संपूर्ण है, और दूसरों की दृष्टि से अपूर्ण है। स्वतंत्र रूप से विचार करने से सब धर्म पूर्णापूर्ण हैं। अमुक हद के बाद सब शास्त्र बंधन रूप मालूम पड़ते हैं। परंतु यह तो गुणातीत की अवस्था हुई। रायचंदभाई की दृष्टि से विचार करते हैं तो किसीको अपना धर्म छोड़ने की आवश्यकता नहीं। सब अपने-अपने

धर्म में रहकर अपनी स्वतंत्रता मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं; क्योंकि मोक्ष प्राप्त करने का अर्थ सर्वांश से राग-द्वेष रहित होना ही है।[१]

: २२ :

आचार्य सुशील रुद्र

आचार्य सुशील रुद्र का देहांत ३० जून, १९२५ को होगया। वह मेरे एक आदरणीय मित्र और खामोश समाज-सेवी थे। उनकी मृत्यु से मुझे जो दु:ख हुआ है उसमें पाठक मेरा साथ दें। भारत की मुख्य बीमारी है राजनैतिक गुलामी। इसलिए वह उन्हींको मानता है, जो उसे दूर करने के लिए खुले आम सरकार से लड़ाई लड़ते हैं, और जिसने कि अपनी जल और थल-सेवा तथा धन-बल और कूट-नीति के द्वारा अपनी मजबूत मोर्चाबंदी कर ली है। इससे स्वभावत: उसे उन कार्यकर्ताओं का पता नहीं रहता जो नि:स्वार्थ होते हैं, और जो जीवन के दूसरे विभागों में, जो कि राजनीति से कम उपयोगी नहीं होते हैं, अपनेको खपा देते हैं। सेंट-स्टीफंस कालेज, दिल्ली, के प्रिंसिपल सुशीलकुमार रुद्र ऐसे ही विनीत कार्यकर्त्ता थे। वह पहले दरजे के शिक्षा-शास्त्री थे। प्रिंसिपल के नाते वह चारों ओर लोकप्रिय हो गये थे। उनके और उनके विद्यार्थियों के बीच एक प्रकार का आध्यात्मिक संबंध था। यद्यपि वह ईसाई थे, तथापि वह अपने हृदय में हिंदू-धर्म और इस्लाम के लिए भी जगह रखते थे। इन्हें वह बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे। उनका ईसाई धर्म औरों से फटक कर अलग रहनेवाला न था, जो अकेले ईसामसीह को दुनिया का तारनहार न मानता हो उसके सर्वनाश की दुहाई देनेवाला न था। अपने धर्म पर दृढ़ रहते हुए भी वह औरों को सहन करते थे। वह राजनीति के बड़े तेज और चिंताशील स्वाध्यायी थे। अग्रगामी कहे जानेवाले लोगों के प्रति अपनी

---

१ 'श्रीमद्राजचंद्र' से

सहानुभूति की कवायद जहां वह न दिखाते थे, वहां वह छिपाते न थे। जब से, १९१५ से, मैं अफ्रीका से लौटा मैं जब-कभी दिल्ली जातां, उन्हींका अतिथि होता। रौलट कानून के सिलसिले में जबतक मैंने सत्याग्रह नहीं छेड़ा तबतक यह कार्य निर्विघ्न जारी रहा। ऊंचे हल्कों में उनके कितने ही अंग्रेज मित्र थे। एक पूरे अंग्रेजी मिशन से उनका संबंध था। अपने कालेज के वह पहले ही हिंदुस्तानी प्रिंसिपल थे। इसलिए मेरे दिल ने कहा कि मेरा उनके साथ समागम रहने और उनके घर में ठहरने से शायद लोगों को यह गलत खयाल हो कि मेरा उनका मतैक्य है और उनके साथियों को अनावश्यक संकट का सामना करना पड़े। इसलिए मैंने दूसरी जगह ठहरना चाहा। उनका जवाब अपने ढंग का था—"मेरा धर्म लोगों के अनुमान से अधिक गहरा है। मेरे कुछ मत तो मेरे जीवन के घनिष्ठ अंग हैं। वे गहरे और दीर्घकाल के मनन और प्रार्थना के बाद निश्चित हुए हैं। मेरे अंग्रेज मित्र उन्हें जानते हैं। यदि अपने सम्माननीय मित्र और अतिथि के रूप में मैं आपको अपने घर में रखूं तो वे इसका गलत अर्थ नहीं कर सकते। और यदि कभी मुझे इन दो बातों में से कि अंग्रेज के अंदर जो कुछ मेरा प्रभाव है वह चला जाय या आप किसी एक को चुनना पड़े तो मैं जानता हूं कि मैं किस चीज को पसंद करूंगा। आप मेरे घर को नहीं छोड़ सकते।" तब मैंने कहा—"लेकिन मुझसे तो हर किस्म के लोग मिलने के लिए आते हैं। आप अपने मकान को सराय तो बना नहीं सकते।" उन्होंने उत्तर दिया—"सच पूछो तो मुझे यह सब अच्छा मालूम होता है। आपके मित्रों का आना-जाना मुझे पसंद है। यह देखकर मुझे आनंद होता है कि आपको अपने मकान में ठहराकर मेरे हाथों कुछ देश-सेवा हो रही है।" पाठकों को शायद मालूम न हो कि खिलाफत के दावे को प्रत्यक्ष रूप देने के लिए जो पत्र मैंने वायसराय को लिखा था उसका विचार और मसविदा प्रिंसिपल रुद्र के मकान में तैयार हुआ था। वह तथा चार्ली एंड्रूज उसमें सुधार सुझानेवाले थे। उन्हींके घर की छांह में

बैठकर असहयोग की कल्पना उत्पन्न और प्रवर्तित हुई। मौलानाओं, दूसरे मुसलमानों तथा अन्य मित्रों और मेरे बीच जो निजी मंत्रणा हुई उसकी कार्रवाही को वह बड़ी दिलचस्पी के साथ चुपचाप देखते थे। उनके तमाम कार्य धर्म-भाव से प्रेरित होते थे ऐसी हालत में दुनियावी सत्ता छिन जाने का कोई डर न था— तथापि वही धर्म-भाव उन्हें सांसारिक सत्ता के अस्तित्व और उपयोग तथा मित्रता के मूल्य को समझने में सहायक होता था। जिस धार्मिक भाव से मनुष्य को विचार और आचार के सुंदर मेल का यथार्थ ज्ञान होता है, उसकी सत्यता को उन्होंने अपने जीवन में चरितार्थ कर दिखाया था। आचार्य रुद्र ने अपनी ओर इतने उच्च चरित्र लोगों को आकर्षित किया था, जिनके सहवास की इच्छा किसीको हो सकती है। बहुत लोग नहीं जानते हैं कि श्री सी० एफ० एंड्रूयज हमें प्रिंसिपल रुद्र के ही कारण प्राप्त हुए हैं। वे जुड़े भाई जैसे थे। उनका स्नेह आदर्श मित्रता के अध्ययन का विषय था।

प्रिंसिपल रुद्र अपने पीछे दो लड़के और एक लड़की को छोड़ गये हैं।[1]

: २३ :

लाला लाजपतराय

लाला लाजपतराय को गिरफ्तार क्या किया, सरकार ने हमारे एक बड़े-से-बड़े मुखिया को पकड़ लिया है। उसका नाम भारत के बच्चे-बच्चे की जबान पर है। अपने स्वार्थ-त्याग के कारण वह अपने देश-भाइयों के हृदय में उच्च स्थान प्राप्त कर चुके हैं। अहिंसा के प्रचार के लिए और उसके साथ ही लोकमत को संगठित और प्रकट करने के लिए उन्होंने जितना परिश्रम किया

---

[1] हिंदी नवजीवन, ९-७-२५

है उतना बहुत ही थोड़े लोगों ने किया है। उनकी गिरफ्तारी से सरकार की नीति या वृत्ति का जितना सच्चा पता चलता है उतना दूसरी किसी बात से नहीं।

पंजाबी भाई लालाजी को बड़े-से-बड़ा गौरव जो दे सकते हैं वह यह है कि वे यही समझकर कि लालाजी हमारे साथ ही हैं, उनका काम बराबर आगे बढ़ाते रहें।[१]

... ...

आखिरकार लाजपतराय, पंडित संतानम, मलिक लालखान और डाक्टर गोपीचंद के मुकदमे का फैसला हो गया। लालाजी तथा पंडित संतानम को अठारह महीने की कैद की सजा दी गई। अभियुक्तों के बहुतेरा विरोध करने पर भी सरकार ने जबरदस्ती उनके बचाव के लिए एक वकील नियुक्त किया था। इस तमाशे के होते हुए भी उनको सजा दी जाना तो निश्चित ही था। सजा का हुक्म सुनाये जाने के जरा पहले ही लालाजी ने मुझे एक पत्र लिखा। उसमें उनके चित्त की प्रसन्नता टपकी पड़ती है। वह इस प्रकार है:

"आपने जो स्नेहपूर्ण टिप्पणी लिखी है तथा रामप्रसादजी और पुरुषोत्तमलाल के द्वारा जो संदेश भेजा, उनके लिए आपको बहुत-बहुत धन्यवाद। मैं बहुत मजे में हूं। मैंने अन्न-त्याग नहीं किया था। मैं अपने आराम के लिए शोरोगुल मचाने के खिलाफ हूं। हम यहां इसलिए नहीं आये हैं कि किसी तरह की सुविधाएं या रियायतें चाहें। सच्चा हाल अखबारों में जाहिर हुआ है और आशा है कि वह अब आप तक पहुंच गया होगा। हम सब लोगों का चित्त बहुत प्रसन्न है और मैं राष्ट्रीय पाठशालाओं तथा धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन में अपने समय का खूब सदुपयोग कर रहा हूं। अहमदाबाद में जो कुछ हुआ है उसके तथा सर्वपक्षीय परिषद् (राउंड टेबल कांफ्रेंस) के हालात मुझे मालूम हो गये हैं। हमारी

---

[१] हिंदी नवजीवन, ११-१२-२१

तकलीफों की वजह से हमारे सिद्धांतों के निर्णय में बाधा न होने दीजिएगा। आप यकीन मानिये, हम अपने मनोरथ को पूरा करने के लिए जबतक चाहिए तबतक और जितनी चाहिए, उतनी तकलीफें बरदाश्त करने को हर तरह से तैयार हैं। और अब जब कि उसीके लिए हम यहां आये हुए हैं तो हमें उसे अंत तक निबाहना चाहिए।"

हमें आशा करनी चाहिए कि लालाजी और पंडित संतानम को उनका अध्ययन जारी रखने दिया जायगा। मैं उन्हें तथा उनके साथियों को यह भी सूचित करने का साहस करूंगा कि वे मौलाना शौकतअली और श्री राजगोपालाचारी तथा उनके साथियों का अनुकरण करें, अर्थात् वे साहित्य-संबंधी उद्योगों के साथ-ही-साथ चरखा कातने पर भी ध्यान देंगे। मैं अभिवचन देता हूं कि बीच-बीच में चरखा कातते रहने से लालाजी के इतिहास-लेखन तथा पंडित संतानम के संस्कृत-अध्ययन में हानि न होगी।[1]

... ...

मैंने तो लालाजी को एक बच्चे के समान खुले दिलवाला पाया है। उनके त्याग की जोड़ लगभग हुई नहीं। मेरी उनसे हिंदू-मुसलमानों के बारे में एक बार नहीं, अनेक बार बातें हुई हैं। वह मुसलमानों के साथ तनिक भी दुश्मनी नहीं रखते; लेकिन उन्हें जल्दी एकता हो जाने में शक है। वह ईश्वर से प्रकाश पाने के लिए प्रार्थना कर रहे हैं। खुद शंकित रहते हुए भी वह हिंदू-मुसलमानों की एकता के कायल हैं, क्योंकि जैसाकि उन्होंने मुझसे कहा है वह स्वराज्य के कायल हैं। वह मानते हैं कि ऐसी एकता के बिना स्वराज्य स्थापित नहीं हो सकता। तो भी वह यह नहीं जानते कि यह एकता किस तरह और कब होगी। मेरा उपाय उन्हें पसंद है, परंतु इस बात में शक है कि हिंदू लोग उसका मर्म समझ पावेंगे

[1] हिंदी नवजीवन, २५-१-२२

या नहीं और अगर समझ पावेंगे तो उसकी शराफत की कदर करेंगे या नहीं ।[१]

... ...

कहा जाता है कि किसीने यह संवाद भेजा है कि अमृतसर की खिलाफत-परिषद में मैंने लाला लाजपतराय को भीरु कहा है। लालाजी जो कुछ भी हों, वह भीरु नहीं हैं। मेरे व्याख्यान का पूर्वापर संबंध देखने से प्रतीत होगा कि मैं उनका इस आक्षेप से कि वह मुसलमानों के विरोधी हैं बचाव कर रहा था। उस समय मैंने जो कुछ कहा था वह यह है: लालाजी सदा शांत चित्त रहते हैं और उन्हें मुसलमानों के उद्देश्य के बारे में बड़ी शंका रहती है। लेकिन वह मुसलमानों की दोस्ती सच्चे दिल से चाहते हैं। लालाजी के प्रति मेरा बड़ा आदर-भाव है। मैं उन्हें बहादुर, आत्म-त्यागी, उदार, सत्यनिष्ठ और ईश्वर से डरनेवाला मानता हूं। उनका स्वदेश-प्रेम बड़ा ही शुद्ध है। देश की जितनी और जैसी सेवा उन्होंने की है उसमें उनकी बराबरी करनेवाले बहुत कम हैं। और यदि ऐसे शख्सों पर संदेह किया जा सके कि उनके उद्देश्यहीन हैं तो हमें हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य से उसी प्रकार निराश होना पड़ेगा जिस प्रकार हमें अली भाइयों पर हीन उद्देश्य रखने का संदेह करने पर निराश होना पड़े। हम सब अपूर्ण हैं, हमारा मत एक-दूसरे के खिलाफ दूषित हो गया है। हम, हिंदू और मुसलमान, जैसे हैं वैसे ही समझे जाने चाहिए। जो हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य को अपना धर्म मानते हैं उन्हें तो जो साधन हमारे पास है उसीके द्वारा उसे संपादन करने का प्रयत्न करना चाहिए।[२]

... ...

---

[१] हिंदी नवजीवन १-६-२४

[२] हिंदी नवजीवन, १४-१२-२४

"आपके तार के लिए आभार मानता हूं। लोगों की ओर से पुलिस को हमला करने के लिए कोई कारण नहीं मिला है। यह मामला इरादापूर्वक किया गया था। दो सख्त चोटें लगी हैं, मगर गंभीर नहीं हैं। एक बाईं छाती पर और एक कंधे पर लगी है। दूसरी चोटें सत्यपाल, गोपीचंद, हंसराज, मुहम्मद आलम आदि मित्रों ने संभाल लीं। दूसरों पर भी मार पड़ी है और चोटें लगी हैं, किंतु चिंता का कोई कारण नहीं है।"[1]

—लाजपतराय

मैंने लाला लाजपतराय को तार से धन्यवाद दिया था और हालत पूछी थी। उसके जवाब में तुरंत ही लालाजी ने ऊपर का तार भेजा। आज के लोगों में से, जबकि अधिकांश की अभी रेखें भी नहीं भीगीं थीं, लालाजी ने 'पंजाब केसरी' का नाम पाया था। अबतक उनका यह अल्काव जैसा-का-तैसा कायम है, क्योंकि चाहे उनके पक्ष और विपक्ष में कुछ भी क्यों न कहा जाय, वह अब भी पंजाब के सबसे बड़े निर्विवाद नेता हैं और सारे भारतवर्ष में सबसे अधिक लोकप्रिय और प्रतिष्ठित नेताओं में से हैं। वह महासभा के सभापति हो चुके हैं, यूरोप में उनका नाम है और वह उन गिने-चुने नेताओं से हैं, जो दिल की बात तुरंत ही कह देते हैं, गो कोई भले ही गलतफहमी करे या उससे भी अधिक उन्हें अक्सर पहचाननेवाला मूर्ख समझे। मगर लालाजी अपनी आदत से लाचार हैं; क्योंकि वह अपने दिल में कोई बात छिपाकर रख ही नहीं सकते। जो बात सोची, वह वह कहेंगे ही। इसलिए जब मैंने यह शीर्षक पढ़ा "लालाजी पर मार" और मार के ब्यौरे पढ़े तभी मेरे मुंह से निकल गया—"शाबाश !" अब हमें स्वराज्य पाने में बहुत देर नहीं लगेगी, क्योंकि चाहे हमारी क्रांति हिंसक हो या अहिंसक,

---

[1] साइमन-कमीशन के लाहौर आने पर उसके विरोध में निकाले गये जलूस का लालाजी ने नेतृत्व किया था। पुलिस ने उस जलूस पर लाठियां चलाई थीं।

स्वतंत्र होने के पहले हमें देश के नाम पर मरने की कला सीखनी होगी। इसके अलावा जबतक महान प्रयत्न न किया जावे, अहिंसक दबाव से भी शासक झुकेंगे नहीं। आदर्श और संपूर्ण अहिंसा के सामने, मैं यह कल्पना कर सकता हूं कि शासकों की वृत्ति बिल्कुल ही बदल जानी संभव है। मगर गोकि आदर्श और संपूर्ण कार्यक्रम बनाना संभव है, तथापि उसका संपूर्ण और आदर्श अमल कभी संभव नहीं है, इसलिए सबसे सस्ती बात यही है कि नेताओं पर मार पड़े या गोली चले। अबतक अनजान आदमियों पर मार पड़ी है या वे मारे गये हैं। थोड़े-से आदमियों को गोली मारने से भी देश का ध्यान जितना आकर्षित नहीं होता उससे कहीं अधिक लालाजी पर हमला करने से हुआ है। लालाजी तथा दूसरे नेताओं पर हमले से हिंदुस्तान के राजनीतिज्ञ विचार में पड़ गये हैं और सरकार की शांति तो जरूर ही भंग हो गई होगी।[१]

... ...

.... लाला लाजपतराय का देहांत हो गया। लालाजी चिरजीवी होवें। जबतक हिंदुस्तान के आकाश में सूर्य चमकता है तबतक लालाजी मर नहीं सकते। लालाजी तो एक संस्था थे। अपनी जवानी के ही समय से उन्होंने देशभक्ति को अपना धर्म बना लिया था और उनके देशप्रेम में संकीर्णता न थी। वह अपने देश से इसलिए प्रेम करते थे कि वह संसार से प्रेम करते थे। उनकी राष्ट्रीयता अंतर्राष्ट्रीयता से भरपूर थी। इसलिए यूरोपियन लोगों पर भी उनका इतना अधिक प्रभाव था। यूरोप और अमेरिका में उनके अनेक मित्र थे। वे मित्र लालाजी को जानते थे और इसलिए उनसे प्रेम करते थे।

उनकी सेवाएं विविध थीं। वह बड़े ही उत्साही समाज और धर्म-सुधारक थे। हममें से बहुत-से लोगों के समान वह भी इसीलिए राजनीतिज्ञ बने थे कि समाज और धर्म-सुधार की उनकी लगन

---

[१] हिंदी नवजीवन, ८-११-२८

राजनीति में शामिल हुए बिना पूरी होती ही नहीं थी। सार्वजनिक जीवन शुरू करने के कुछ ही समय बाद उन्होंने देख लिया था कि विदेशी गुलामी से देश के स्वतंत्र हुए बिना हमारे इच्छित सुधारों में से बहुत-से नहीं हो सकेंगे। जैसाकि हममें से बहुतों को जान पड़ता है, उन्हें भी जान पड़ा था कि विदेशी परतंत्रता का जहर देश की नस-नस में घुस गया है।

ऐसे एक भी सार्वजनिक आंदोलन का नाम लेना असंभव है, जिसमें लालाजी शामिल न थे। सेवा करने की उनकी भूख सदा अतृप्त ही रहती थी। उन्होंने शिक्षण-संस्थाएं खोलीं, वह दलितों के मित्र बने, जहां कहीं दुःख-दारिद्रय हो, वहीं वह दौड़ते थे। नवयुवकों को वह असाधारण प्रेम से अपने पास जमा करते थे। सहायता के लिए किसी नौजवान की प्रार्थना उनके पास बेकार न गई। राजनैतिक क्षेत्र में वह ऐसे थे कि उनके बिना चल ही नहीं सकता था। अपने विचार प्रकट करने में वह कभी भयभीत न हुए। उस समय भी जबकि कष्ट सहना रोजमर्रा की बात नहीं हो गई थी, अपने विचार निर्भीकता से प्रकाशित करने के लिए उन्होंने कष्ट सहा था। उनके जीवन में कोई छिपा हुआ रहस्य नहीं था। उनकी अत्यंत अधिक स्पष्टवादिता से मित्रों को प्रायः घबराहट में पड़ना होता था, उनके आलोचक भी चक्कर में पड़ जाते थे, मगर उनकी यह आदत छूटनेवाली नहीं थी।

मुसलमान मित्रों का लिहाज रखता हुआ भी मैं दावे के साथ यह कहता हूं कि लालाजी इस्लाम के दुश्मन नहीं थे। हिंदू-धर्म को सबल बनाने तथा शुद्ध करने की उनकी प्रबल इच्छा को भूल से मुसलमानों या इस्लाम के प्रति घृणा नहीं समझनी चाहिए। हिंदू-मुसलमानों में एकता स्थापित करने की उनकी हार्दिक इच्छा थी। वह हिंदूराज की चाहना नहीं करते थे, वह हिंदुस्तानी राज की इच्छा करते थे। अपने-आपको हिंदुस्तानी कहनेवाले सभी लोगों में वह संपूर्ण समानता स्थापित करना चाहते थे। लालाजी की मृत्यु से भी हम परस्पर एक-दूसरे पर विश्वास करना

सीखें और अगर हम निर्भय बन जायं तो यह तुरंत ही संभव है।

उनके लिए एक राष्ट्रीय स्मारक की मांग अवश्य ही होनी चाहिए और वह होगी भी। मेरी विनम्र सम्मति में कोई स्मारक तबतक संपूर्ण नहीं हो सकता जबतक कि स्वतंत्रता जरूर प्राप्त करनी है, यह दृढ़ विश्वास न हो, और स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए वह जीते थे, इसीके लिए उनकी ऐसी गौरवमयी मृत्यु भी हुई। जरा हम याद करें कि उनकी अंतिम इच्छा क्या थी। उन्होंने नई पीढ़ी को हिंदुस्तान की स्वतंत्रता प्राप्त करने तथा उसके गौरव की रक्षा करने का भार सौंपा है। नई पीढ़ी में उन्होंने जो विश्वास दिखलाया, वह क्या उसके योग्य आपको साबित करेगी ? और हम बूढ़ों में से, ज़ो भारतवर्ष को स्वतंत्र देखने के लालाजी तथा दूसरे अनेक स्वर्गीय देशभक्तों के स्वप्न को सही बनाने के लिए अभी तक बचे हुए हैं, एक बार सभी मिलकर महान प्रयत्न कर अपनेको लालाजी के जैसे देशबंधु पाने का अधिकारी सिद्ध करेंगे।[1]

... ...

. . . . जब राजनीति को लोग भूल जायंगे, जब जनता का ध्यान खींच लेनेवाली अनेक क्षणभंगुर वस्तुएं भी विस्मृत हो जायंगी, तब भी लालाजी के गंभीर और विशाल हरिजन-प्रेम को और उनकी तज्जनिक महान् सेवाओं को करोड़ों हिंदू ही नहीं, बल्कि कोटिशः सवर्ण हिंदू भी—और हिंदू ही क्यों, समस्त भारत-वर्ष बड़ी श्रद्धा-भक्ति से याद किया करेगा। लालाजी एक महान् मानव-प्रेमी थे और उनका वह मानव-प्रेम विश्वव्यापी था। उनकी प्रत्येक वर्षी के अवसर पर हमें अपने जीवन में लालाजी को उनकी प्रत्येक विगत वर्षी की अपेक्षा, अधिकाधिक सजीव करते जाना चाहिए। लालाजी-जैसे समाज-सुधारकों का जब निधन होता है तब केवल उनकी देह का ही नाश होता है। उनका कार्य और

---

[1] हिंदी नवजीवन, २२-११-२८

उनके विचारों का देह के साथ अंत नहीं होता। उनकी शक्ति तो उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। हमें इसका अनुभव तब और अधिक होता है जब हम देखते हैं कि ज्यों-ज्यों समय बीतता है त्यों-त्यों इस जीर्ण चोले के बाहर इसका प्रभाव स्वतः प्रकट होता जाता है। मनुष्य के अंदर जो क्षणजीवी अंश है वह देह के साथ नाश को प्राप्त हो जाता है, किंतु मनुष्य का जो शाश्वत अविनाशी अंश है वह तो देह के भस्मीभूत होने पर भी जीवित रहता है और देह का बंधन दूर हो जाने से वह और भी अधिक प्रकाशमान हो जाता है। इस विचार को सामने रखकर हमें लालाजी की स्मृति को चिरजीवी रखना चाहिए। हरिजन हिंदू तथा सवर्ण हिंदू, दोनों ही स्व० लालाजी का पुण्यस्मरण करके हिंदू-समाज में से यह अस्पृश्यता का पाप-कलंक धो डालने का नये सिरे से संकल्प करें। हरिजन तो उन त्रुटियों को दूर करें जो अत्याचार बर्दाश्त करते-करते लोगों में पैदा हो जाती हैं और सवर्ण अपने उस पाप को पखारकर शुद्ध हो जायं, जो उन्होंने हरिजनों को जन्मना अस्पृश्य और अपने को जन्मना उच्च मान कर किया है।[1]

: २४ :

वासंती देवी

कुछ वर्ष पूर्व मैंने स्वर्गीय रमाबाई रानडे के दर्शन का वर्णन किया था। मैंने आदर्श विधवा के रूप में उनका परिचय दिया था। इस समय मेरे भाग्य में एक महान् वीर की विधवा के वैधव्य के आरंभ का चित्र उपस्थित करना बदा है।

वासंती देवी के साथ मेरा परिचय १९१९ में हुआ है। गाढ़ परिचय १९२१ में हुआ। उनकी सरलता, चातुरी और उनके अतिथि-सत्कार की बहुतेरी बातें मैंने सुनी थीं। उनका अनुभव

[1] हरिजन-सेवक, २३-११-३४

भी ठीक-ठीक हुआ था। जिस प्रकार दार्जिलिंग में देशबंधु के साथ मेरा संबंध घनिष्ठ हुआ उसी तरह वासंती देवी के साथ भी हुआ। उनके वैधव्य में तो परिचय बहुत ही बढ़ गया है। जब से वह दार्जिलिंग से शव को लेकर कलकत्ते आई हैं तब से मैं कह सकता हूं कि उनके साथ ही रहा हूं। वैधव्य के बाद पहली मुलाकात उनके दामाद के घर हुई। उनके आस-पास बहुतेरी बहनें बैठी थीं। पूर्वाश्रम में तो जब मैं उनके कमरे में जाता तो खुद वही सामने आतीं और मुझे बुलातीं। वैधव्य में मुझे क्या बुलातीं? पुतली की तरह स्तम्भित बैठी अनेक बहनों में से मुझे उन्हें पहचानना था। एक मिनट तक तो मैं खोजता ही रहा। मांग में सिंदूर, ललाट पर कुंकुम, मुंह में पान, हाथ में चूड़ियां और साड़ी पर लेस, हँस-मुख चेहरा—इनमें में से एक भी चिन्ह मैं न देखूं तो वासंती देवी को किस तरह पहचानूं? जहां मैंने अनुमान किया था कि वह होंगी वहां जाकर बैठ गया और गौर से मुख-मुद्रा देखी। देखना असह्य हो गया। चेहरा तो पहचान में आया। रुदन रोकना असंभव हो गया। छाती को पत्थर बनाकर आश्वासन देना तो दूर ही रहा।

उनके मुख पर सदा-शोभित हास्य आज कहां था? मैंने उन्हें संत्वना देने, रिझाने और बातचीत कराने की अनेक कोशिशें कीं। बहुत समय के बाद मुझे कुछ सफलता मिली।

देवी जरा हँसी।

मुझे हिम्मत हुई और मैं बोला, "आप रो नहीं सकतीं। आप रोवेंगी तो सब लोग रोवेंगे। मोना (बड़ी लड़की) को बड़ी मुश्किल से चुपकी रखा है। बेबी (छोटी लड़की) की हालत तो आप जानती ही हैं। सुजाता (पुत्रवधू) फूट-फूटकर रोती थी, सो बड़े प्रयास से शांत हुई है। आप दया रखिएगा। आपसे अब बहुत काम लेना है।"

वीरांगना ने दृढ़ता-पूर्वक जवाब दिया, "मैं नहीं रोऊंगी।

मुझे रोना आता ही नहीं।"

मैं इसका मर्म समझा, मुझे संतोष हुआ।

रोने से दुःख का भार हल्का हो जाता है। इस विधवा बहन को तो भार हलका नहीं करना था, उठाना था। फिर रोती कैसे?

अब मैं कैसे कह सकता था—"लो, चलो, हम भाई-बहन पेट भर रो लें और दुःख कम कर लें?"

हिंदू विधवा दुःख की प्रतिमा है। उसने संसार के दुख का भार अपने सिर ले लिया है। उसने दुःख को सुख बना डाला है। दुःख को धर्म बना डाला है।

वासंती देवी सब तरह के भोजन करती थीं। १९२० तक के समय में उनके यहां छप्पन भोग होते थे और सैकड़ों लोग भोजन करते थे। पान के बिना वह एक मिनिट नहीं रह सकती थीं। पान की डिबिया पास ही पड़ी रहती थी।

अब शृंगार-भाव का त्याग, पान का त्याग, मिष्ठानों का त्याग, मांस-मत्स्य का त्याग, केवल पति का ध्यान, परमात्मा का ध्यान। . . .

इस दुःख को सहन करना धर्म है या अधर्म? और धर्मों में तो ऐसा नहीं देखा जाता। हिंदू-धर्मशास्त्रियों ने भूल तो न की हो? वासंती देवी को देखकर मुझे इसमें भूल नहीं दिखाई देती, बल्कि धर्म की शुद्ध भावना दिखाई देती है। वैधव्य हिंदू-धर्म का शृंगार है। धर्म का भूषण वराग्य है, वैभव नहीं। दुनिया भले ही और कुछ कहे तो कहती रहे।

परंतु हिंदू-शास्त्र किस वैधव्य की स्तुति और स्वागत करता है? १५ वर्ष की मुग्धा के वैधव्य का नहीं जो कि विवाह का अर्थ भी नहीं जानती। बाल-विधवाओं के लिए वैधव्य धर्म नहीं, अधर्म है। वासंती देवी को मदन खुद आकर ललचावे तो वह भस्म हो जाय। वासंती देवी के शिव की तरह तीसरी आंख है। परंतु पंद्रह वर्ष की बालिका वैधव्य की शोभा को क्या समझ सकती है? उसके लिए तो वह अत्याचार ही है। बाल-विधवाओं की वृद्धि में मुझे

हिंदू-धर्म की अवनति दिखाई देती है। वासंती देवी-जैसी के वैधव्य में मैं शुद्ध धर्म का पोषण देखता हूं। वैधव्य सब तरह, सब जगह, सब समय, अनिवार्य सिद्धांत नहीं है। वह उस स्त्री के लिए धर्म है जो उसकी रक्षा करती है।

रिवाज के कुएं में तैरना अच्छा है। उसमें डूबना आत्म-हत्या है।

जो बात स्त्री के संबंध में वही बात पुरुष के संबंध में होनी चाहिए। राम ने यह कर दिखाया। सती सीता का त्याग भी वह सह सके। अपने ही किये त्याग से खुद ही जले। जब से सीता गई तब से रामचंद्र का तेज घट गया। सीता के देह का तो त्याग उन्होंने किया, पर उसे अपने हृदय की स्वामिनी बना लिया। उस दिन से उन्हें न तो शृंगार भाया, न दूसरा वैभव। कर्तव्य समझकर तटस्थता के साथ राज्य-कार्य करते हुए शांत रहे।

जिस बात को आज वासंती देवी सह रही है, जिसमें से वह अपने विलास को हटा सकती है, वे बातें जबतक पुरुष न करेंगे तबतक हिंदू-धर्म अधूरा है। 'एक को गुड़ और दूसरे को थूहर' यह उल्टा न्याय ईश्वर के दरबार में नहीं हो सकता। परंतु आज हिंदू-पुरुषों ने इस ईश्वरीय कानून को उलट दिया है। स्त्री के लिए वैधव्य कायम रखा है और अपने लिए श्मशान-भूमि में ही दूसरे विवाह की योजना करने का अधिकार!

वासंती देवी ने अबतक किसीके देखते, आंसू की एक बूंद तक नहीं गिराई है। फिर भी उनके चेहरे पर तेज तो आ ही नहीं रहा है। उनकी मुखाकृति ऐसी हो गई है कि मानों भारी बीमारी से उठी हों। यह हालत देखकर मैंने उनसे निवेदन किया कि थोड़ा समय निकलकर बाहर हवा खाने चलिये। मेरे साथ मोटर में तो बैठीं, पर बोलने क्यों लगीं? मैंने कितनी ही बातें चलाईं—वह सुनती रहीं। पर खुद उसमें बराय नाम शरीक हुईं। हवाखोरी की तो, पर पछताईं। सारी रात नींद न आई। "जो बात मेरे पति को अतिशय प्रिय थी वह आज इस अभागिनी ने की। यह क्या

शोक है ?" ऐसे विचारों में रात गई। भोंबल (उनका लड़का) मुझे यह खबर दे गया! आज मेरा मौनवार है। मैंने कागज पर लिखा है—"यह पागलपन हमें माताजी के सिर से निकालना होगा। हमारे प्रियतम को प्रिय लगनेवाली बहुतेरी बातें हमें उसके वियोग के बाद करनी पड़ती हैं। माताजी विलास के लिए मोटर में नहीं बैठी थीं, केवल आरोग्य के लिए बैठी थीं। उन्हें स्वच्छ हवा की बहुत जरूरत थी। हमें उनका बल बढ़ाकर उनके शरीर की रक्षा करनी होगी। पिताजी के काम को चमकाने और बढ़ाने के लिए हमें उनके शरीर की आवश्यकता है। यह माताजी से कहना।"

"माताजी ने तो मुझसे कहा था कि यह बात ही आपसे न कही जाय। पर मुझसे न रहा गया। अभी तो यही उचित मालूम होता है कि आप उन्हें मोटर में बैठने के लिए न कहें।"—भोंबल ने कहा।

बेचारा भोंबल! किसीका लौटाये न लौटने वाला लड़का आज बकरी जैसा बनकर बैठा है! उसका कल्याण हो!

पर इस साध्वी विधवा का क्या? वैधव्य प्यारा लगता है, फिर भी असह्य मालूम होता है। सुधन्वा खौलते हुए तेल के कड़ाह में भटकता था और मुझ-जैसे दूर रहकर देखनेवाले उसके दुःख की कल्पना करके कांपते थे। सती स्त्रियो, अपने दुःख को तुम संभाल कर रखना! वह दुःख नहीं, सुख है। तुम्हारा नाम लेकर बहुतेरे पार उतर गये हैं और उतरेंगे।

वासंती देवी की जय हो![1]

---

[1] हिंदी नवजीवन २-७-२५

: २५ :

स्वामी श्रद्धानंद

जिसकी उम्मीद थी वह ही गुजरा। कोई छः महीने हुए स्वामी श्रद्धानंदजी सत्याग्रहाश्रम में आकर दो-एक दिन ठहरे थे। बातचीत में उन्होंने मुझसे कहा था कि उनके पास जब-तब ऐसे पत्र आया करते थे जिनमें उन्हें मार डालने की धमकी दी जाती थी। किस सुधारक के सिर पर बोली नहीं बोली गई है? इसलिए उनके ऐसे पत्र पाने में अचंभे की कोई बात नहीं थी। उनका मारा जाना कुछ अनोखी बात नहीं है।

स्वामीजी सुधारक थे। वह कर्मवीर थे,वचनवीर नहीं। जिसमें उनका विश्वास था, उसका वह पालन करते थे। उन विश्वासों के लिए उन्हें कष्ट झेलने पड़े। वह वीरता के अवतार थे। भय के सामने उन्होंने कभी सिर नहीं झुकाया। वह योद्धा थे और योद्धा रोग-शैय्या पर मरना नहीं चाहता। वह तो युद्ध-भूमि का मरण चाहता है।

कोई एक महीना हुआ कि स्वामी श्रद्धानंदजी बहुत बीमार पड़े। डाक्टर अंसारी उनकी चिकित्सा करते थे। जितने अनुराग से उनसे संभव था, डाक्टर अंसारी उनकी सेवा करते थे। इस महीने के शुरू में मेरे पूछने पर उनके पुत्र प्रो० इंद्र ने तार दिया था कि स्वामीजी अब अच्छे हैं और मेरा प्रेम और दुआ मांगते हैं। मैं उनके बिना मांगे ही उनपर प्रेम और उनके लिए भगवान से प्रार्थना करता ही रहता था।

भगवान को उन्हें शहीद की मौत देनी थी। इसलिए जब वह बीमार ही थे तभी उस हत्यारे के हाथ मारे गये, जो इस्लाम पर धार्मिक चर्चा के नाम पर उनसे मिलना चाहता था, जो स्वामीजी की प्रेरणा से आने दिया गया, जिसने प्यास मिटाने को पानी मांगने के बहाने स्वामीजी के ईमानदार नौकर धर्मसिंह को पानी लेने

को बाहर हटा दिया और जिसने नौकर की गैरहाजिरी में बिस्तर पर पड़े हुए रोगी की छाती में दो प्राण-घातक चोटें कीं। स्वामीजी के अंतिम शब्दों की हमें खबर नहीं। लेकिन अगर मैं उन्हें कुछ भी पहचानता था तो मुझे बिल्कुल संदेह नहीं है कि उन्होंने अपने परमात्मा से उसके लिए क्षमा-याचना की होगी, जो यह नहीं जानता था कि वह पाप कर रहा है। इसलिए गीता की भाषा में वह योद्धा धन्य है जिसे ऐसी मृत्यु प्राप्त होती है।

मृत्यु तो हमेशा ही धन्य होती है; मगर उस योद्धा के लिए तो और भी अधिक जो अपने धर्म के लिए यानी सत्य के लिए मरता है। मृत्यु कोई शैतान नहीं है। वह तो सबसे बड़ी मित्र है। वह हमें कष्टों से मुक्ति देती है। हमारी इच्छा के विरुद्ध भी हमें छुटकारा देती है। हमें बराबर ही नई आशाएं, नये रूप देती है। वह नींद के समान मीठी है, किंतु तो भी किसी मित्र के मरने पर शोक करने का चलन है। अगर कोई शहीद मरता है तो यह रिवाज नहीं रहता। अतएव इस मृत्यु पर मैं शोक नहीं कर सकता। स्वामीजी और उनके संबंधी ईर्ष्या के पात्र हैं, क्योंकि श्रद्धानंदजी मर जाने पर भी अभी जीते हैं। उससे भी अधिक सच्चे रूप में वह जीते हैं, जब वह हमारे बीच अपने विशाल शरीर को लेकर घूमा करते थे। ऐसी महिमामय मृत्यु पर जिस कुल में उनका जन्म हुआ था, जिस जाति के वह थे, सभी धन्यता के पात्र हैं। वह वीर पुरुष थे। उन्होंने वीर-गति पाई।[1]

... ...

स्वामी श्रद्धानंद की दृष्टि से इस प्रसंग को धर्म-प्रसंग कहेंगे। वह बीमार थे। मुझे तो कुछ खबर न थी, किंतु एक मित्र ने खबर दी कि स्वामीजी भाग्य से ही बच जायं तो बच जायं। पीछे से मेरे तार के उत्तर में उनके लड़के का तार मिला कि उन्हें धीरे-धीरे आराम हो रहा है। यह भी मालूम हुआ कि डाक्टर अंसारी बहुत

---

[1] हिंदी नवजीवन, २३-१२-२६

अच्छी तरह सेवा-शुश्रूषा कर रहे हैं। इस प्रकार की गंभीर बीमारी में वह बिछौने पर पड़े थे और उसपर ही उनके प्राण लिये गये। मरना तो सबको है, किंतु यों मरना किस काम का! सारे हिंदुस्तान में और पृथ्वी पर जहां-जहां हिंदुस्तानी लोग होंगे, वहां-वहां स्वामीजी के, स्वाभाविक बीमारी से, मरने से जो असर होता उसकी अपेक्षा इस अपूर्व मरण से अजीब ही असर होगा। मैंने भाई इंद्र को समवेदना का एक भी तार या पत्र नहीं लिखा है। उन्हें और कुछ दूसरा कह ही नहीं सकता। इतना ही कह सकता हूं कि तुम्हारे पिता को जो मृत्यु मिली है, वह धन्य मृत्यु है।

किंतु यह सब बात तो मैंने स्वामीजी की दृष्टि से, मेरी अपनी दृष्टि से की है। मैं अनेक बार कह चुका हूं कि मेरे लेखे हिंदू और मुसलमान दोनों ही एक हैं। मैं जन्म से हिंदू हूं और हिंदू-धर्म में मुझे शांति मिलती है। जब-जब मुझे अशांति हुई, हिंदू-धर्म में से ही मुझे शांति मिली है। मैंने दूसरे धर्मों का भी निरीक्षण किया है और इसमें चाहे जितनी कमियां और त्रुटियां होवें तो भी मेरे लिए यही धर्म उत्तम है। मुझे ऐसा लगता है और इसीसे मैं अपनेको सनातनी हिंदू मानता हूं। कितने ही सनातनियों को मेरे इस दावे से दुःख होता है कि विलायत से आकर यह सुधरा हुआ आदमी हिंदू कैसा! किंतु मेरा हिंदू होने का दावा इससे कुछ कम नहीं होता और यह धर्म मुझे कहता है कि मैं सबके साथ मित्रता से रहूं। इसीसे मुझे मुसलमानों की दृष्टि भी देखनी है।

मुसलमान की दृष्टि से जब इस बात का विचार करता हूं तो मुझे दूसरी ही बात मालूम पड़ती है। यह कांड मुसलमान के हाथ बन पड़ा, धर्म-चर्चा के बहाने घर में प्रवेश करके उसने यह कृत्य किया। नौकर ने तो कहा, "स्वामीजी बीमार हैं। आज नहीं मिल सकते।" दरवाजे पर हुज्जत हुई। स्वामीजी ने सुनकर कहा, "अच्छा है, आ जाने दो।" और स्वामीजी में उससे बात करने की शक्ति न रहने पर भी उन्होंने बातें कीं। बात करने की तो उनमें ताकत ही नहीं थी। स्वामीजी को तो उसे समझाकर विदा

कर देने को था, इसलिए बुलाकर कहा, "भाई, अच्छे हो जाने पर तुम्हें जितनी बहस करनी हो कर लेना, किंतु आज तो बिछौने पर पड़ा हूं।" इसपर उसने पानी मांगा। धर्मसिंह को स्वामीजी ने आज्ञा दी, "इनको पानी पिला दो।" आज्ञाकारी नौकर पानी लेने जाता है, तबतक तो यहां उसने रिवाल्वर निकाल ली। एक से संतोष न हुआ तो दो गोली मारीं। स्वामीजी ने उसी समय प्राण खोये। धर्मसिंह आवाज सुनकर अपने मालिक को बचाने दौड़ा, किंतु बचावे कौन? ईश्वर को स्वामीजी के शरीर की रक्षा नहीं करनी थी।

हमारे लिए यह एक अच्छा शिक्षा-पाठ बनना चाहिए कि स्वामीजी का खून अब्दुलरशीद के हाथों हो। इससे हम एक-दूसरे को समझ लें। . . .

श्रद्धानंदजी और मेरे बीच कैसा संबंध था, वह तो आज मैं यहां नहीं कहूंगा। मेरे सामने वह अपने दिल की बातें कहा करते थे। कोई छः महीने हुए जब वह आश्रम में आये थे तब कहते थे, "मेरे पास धमकी के कितने पत्र आते हैं। लोग धमकी देते हैं कि तुम्हारी जान ले ली जायगी, पर मुझे उनकी कुछ परवा नहीं।" वह तो बहादुर आदमी थे। उनसे बढ़कर बहादुर आदमी मैंने संसार में नहीं देखा। मरने का उन्हें डर नहीं था, क्योंकि वह सच्चे आस्तिक, ईश्वरवादी आदमी थे। इसीसे उन्होंने कहा—मेरी जान अगर ले ही ली जाय तो उसमें होना ही क्या है?[1]

. . . .

स्वामीजी से मेरा पहला परिचय तब हुआ जब वह महात्मा मुंशीराम के नाम से प्रसिद्ध थे। वह परिचय भी पत्रों से हुआ। उस समय वह कांगड़ी गुरुकुल के प्रधान थे, जोकि उनका सबसे पहला और बड़ा शिक्षा-क्षेत्र का काम है। वह सिर्फ पश्चिमी शिक्षा-पद्धति से ही संतुष्ट न थे। लड़कों में वे वेद-शिक्षा का प्रचार करना

---

[1] हिंदी नवजीवन, ६-१-२७

चाहते थे और वह पढ़ाते थे हिंदी के जरिए, अंग्रेजी के नहीं। शिक्षा-काल में वह उन्हें ब्रह्मचारी रखना चाहते थे। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रहियों के लिए उस समय जो धन इकट्ठा किया जा रहा था, उसमें चंदा देने के लिए लड़कों को उन्होंने उत्साहित किया था। वह चाहते थे कि लड़के खुद कुली बनकर, मजदूरी करके चंदा दें, क्योंकि वह युद्ध क्या कुलियों का नहीं था ? लड़कों ने यह सब पूरा कर दिखाया और पूरी मजदूरी कमाकर मेरे पास भेजी। इस विषय में स्वामीजी ने मुझे जो पत्र भेजा था, वह हिंदी में था। उन्होंने मुझे 'मेरे प्रिय भाई' कहकर लिखा था। इसने मुझे महात्मा मुंशीराम का प्रिय बना दिया। इससे पहले हम दोनों कभी मिले नहीं थे।

हम लोगों के बीच के सूत्र एंड्रयूज थे। उनकी इच्छा थी कि जब कभी मैं देश लौटूं, उनके तीनों मित्रों, कवि ठाकुर, प्रिंसिपल रुद्र और महात्मा मुंशीराम से परिचय प्राप्त करूं।

वह पत्र पाने के बाद से हम दोनों एक ही सेना के सैनिक बन गये। उनके प्रिय गुरुकुल में हम १९१५ में मिले और उसके बाद से हरेक मुलाकात में हम दोनों परस्पर निकट आते गये और एक दूसरे को ज्यादा अच्छी तरह समझने लगे। प्राचीन भारत, संस्कृत और हिंदी के प्रति उनका प्रेम असीम था। बेशक, असहयोग के पैदा होने के बहुत पहले से ही वह असहयोगी थे। स्वराज के लिए वह अधीर थे। अस्पृश्यता से वह नफरत करते थे और अस्पृश्यों की स्थिति ऊंची करना चाहते थे। उनकी स्वाधीनता पर कोई बंधन लगाना वह नहीं सह सकते थे।

जब 'रौलट ऐक्ट' का आंदोलन शुरू हुआ तो उसे सबसे पहले शुरू करनेवालों में से वह थे। उन्होंने मुझे बहुत ही प्रेम से भरा हुआ एक पत्र भेजा। किंतु वीरमगाम और अमृतसर-कांड के बाद सत्याग्रह को स्थगित किया जाना वह नहीं समझ सके। उस समय से हमारे बीच मतभेद शुरू हुए, किंतु उससे हम लोगों के भाई-भाई के संबंध में कभी कोई अंतर नहीं पड़ा। उस मतभेद

से मुझपर उनका बाल-सुलभ स्वभाव प्रकट हुआ। परिणाम का विचार किये बिना ही, उन्हें जैसा मालूम था मुझसे सच्ची बात कह दी। वह अतिसाहसिक थे। समय बीतनेके साथ-साथ हम दोनों में जो स्वभाव का अंतर था, उसे मैं देखता गया; किंतु उससे तो उनकी आत्मा की शुद्धता ही सिद्ध हुई। सबको सुनाकर विचार करना कुछ पाप नहीं है। यह तो एक गुण है। यह सत्य-प्रियता का सर्वप्रधान लक्षण है। स्वामीजी ने अपने विचार गुप्त रखे ही नहीं।

बारडोली के निश्चय से उनका दिल टूट गया। मुझसे वह निराश हो गये। उनका प्रकट विरोध बहुत जबर्दस्त था। मेरे नाम उनके निजी पत्रों में और भी विरोध होता था; किंतु हमारे मतभेद पर जितना वह जोर देते थे, प्रेम पर भी उतना ही। प्रेम का विश्वास केवल पत्रों में ही दिला देने से वह संतुष्ट न थे। मौका मिलने पर उन्होंने मुझे ढूंढ़ निकाला और मुझे अपनी स्थिति समझाई और मेरी समझने की कोशिश थी। मगर मुझे मालूम होता है कि मुझे ढूंढ़ने का असल कारण यह था कि अगर जरूरत हो तो मुझे वह विश्वास दिला सकें कि एक छोटे भाई के समान मुझपर उनकी प्रीति जैसी-की-तैसी बनी हुई है।

आर्यसमाज और उसके संस्थापक पर मेरे मतों से और उनके नाम का उल्लेख करने से उन्हें बहुत कष्ट हुआ, परंतु इस धक्के को सह लेने की शक्ति हमारी मित्रता में थी। वह यह नहीं समझ सकते थे कि महर्षि के विषय में मेरे मतों और अपने व्यक्तिगत शत्रुओं के प्रति ऋषि की असीम क्षमा का एक साथ कैसे मेल बैठ सकता है। महर्षि में उनकी इतनी अधिक श्रद्धा थी कि उनपर या उनकी शिक्षाओं पर कोई भी टीका वह सह नहीं सकते थे।

शुद्धि-आंदोलन के लिए मुसलमान पत्रों में उनकी बड़ी कड़ी आलोचनाएं और निंदा की गई है। मैं स्वयं उनके दृष्टि-बिंदु को स्वीकार नहीं कर सका था। अब भी मैं उसे नहीं मानता। किंतु मेरी नजर में, अपने दृष्टि-बिंदु से वह, अपनी स्थिति का पूरा बचाव

करते थे, जबतक शुद्धि और तबलीग मर्यादा के भीतर रहें, तब तक दोनों ही बराबर छूट के अधिकारी हैं।

....अगर हम हिंदू और मुसलमान दोनों शुद्धि का आंतरिक अर्थ समझ सकते तो स्वामीजी की मृत्यु से भी लाभ उठाया जा सकता था।

एक महान सुधारक के जीवन के स्मरणों को मैं सत्याग्रहाश्रम में, उनके कुछ महीनों पहले के आखिरी आगमन की बात के बिना खत्म नहीं कर सकता। वह मुसलमानों के दुश्मन नहीं थे। कुछ मुसलमानों का विश्वास वह बेशक नहीं करते थे, किंतु उन लोगों से उनका कुछ द्वेष नहीं था। उनका खयाल था कि हिंदू दबा दिये गये हैं और उन्हें बहादुर बनकर अपनी और अपनी इज्जत की रक्षा करने योग्य बनना चाहिए। इस बारे में उन्होंने मुझसे कहा था कि "मेरे विषय में बड़ी गलतफहमी फैली हुई है। मेरे विरुद्ध कहीं जानेवाली कई बातों में मैं बिल्कुल निर्दोष हूं। मेरे पास धमकी के कितने एक पत्र आया करते हैं।" मित्रगण उन्हें अकेले चलने से मना करते थे। मगर यह परम आस्तिक पुरुष उनका जवाब दिया करता था, "ईश्वर की रक्षा के सिवाय और किस रक्षा का मैं भरोसा करूं? उसकी आज्ञा के बिना एक तिनका भी नहीं हिलता। मैं जानता हूं कि जबतक वह मुझसे इस देह के द्वारा सेवा लेना चाहता है, मेरा बाल बांका नहीं हो सकता।"

आश्रम में रहते समय उन्होंने आश्रम-पाठशाला के लड़के-लड़कियों से बातें कीं। उनका कहना था कि हिंदू-धर्म की सबसे बड़ी रक्षा आत्म-शुद्धि से ही होगी, भीतर से ही होगी। चारित्र्य और शरीर के गठन के लिए ब्रह्मचर्य पर वह बहुत जोर देते थे।[1]

... ...

....वीर पुरुष को जब ऐसी मृत्यु मिलती है तो वह उसे

---

[1] हिंदी नवजीवन, ६-१-२७

मित्र के समान गले लगाता है। किंतु इससे कोई यह नहीं चाहता कि उसका कोई खून करे। कोई भी अपने साथ अन्याय करे, गुनहगार बने, कोई भी मनुष्य दुष्कृत्य करे, ऐसी इच्छा ही करना अनुचित है।

स्वामीजी वीरों के अग्रणी थे। अपनी वीरता से उन्होंने भारत को आश्चर्य-चकित कर दिखाया। इसका साक्षी मैं हूं कि देश के लिए अपना शरीर कुर्बान करने की उन्होंने प्रतिज्ञा ली थी। वह अनाथ-बंधु थे। अछूतों के लिए उन्होंने जितना किया उससे अधिक हिंदुस्तान में दूसरे किसीने नहीं किया। उनकी दूसरी सेवाओं का वर्णन मैं यहां करना नहीं चाहता। स्वामीजी के जैसे वीर, देशभक्त, ईश्वर के अनन्यभक्त और सेवक का खून देश के लिए जैसा लाभदायक है, वैसा ही, उसे दुःख होना भी स्वाभाविक है, क्योंकि हम लोग अपूर्ण मनुष्य हैं।

......स्वामीजी आत्म-बलिदान से दूसरा ही धर्म बतला गये हैं। उन्होंने एक बार मुझसे पूछा था कि आर्यसमाज उदार कैसे नहीं? आप क्या जानते हैं कि महर्षि दयानंद ने अपनेको जहर देनेवाले के साथ क्या किया था। मैंने जवाब दिया कि मैं महर्षि की क्षमाशीलता को जानता हूं। मगर स्वामीजी तो महर्षि के भक्त थे। उन्होंने सारी कथा कह सुनाई। महर्षि क्षमाशील थे; क्योंकि उनके आगे युधिष्ठिर का उज्ज्वल उदाहरण था। वह उपनिषदों के भक्त थे। श्रद्धानंदजी भी वैसे ही क्षमाशील थे। शुद्धि पर बातें करते समय उन्होंने एक बार कहा था कि "मैं मुसलमानों को हिंदुओं का दुश्मन नहीं मानता।" 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सिद्धांत का उपदेश करनेवाले और गीता के भक्त श्रद्धानंदजी किसीको दुश्मन क्योंकर मान सकते थे? उन्होंने कहा, "मैं मुसलमानों को भाई मानता हूं, मित्र मानता हूं, किंतु हिंदू को भी भाई मानता हूं और उसकी सेवा करना चाहता हूं।"

आज श्रद्धानंदजी के लिए आंसू बहाने का समय नहीं है।

आज तो क्षत्रियता बताने का अवसर है। क्षत्रियता क्षत्रिय का खास गुण भले ही हो मगर ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र सभी उसे दिखा सकते हैं। खासकर आज का 'स्वराज युग' हम सबके लिए क्षत्रियता का युग है। इसलिए रोने की बात छोड़ दें और श्रद्धानंदजी के बलिदान से, रशीद के किये खून से जो पाठ मिले उसे हृदय में धरें।[1]

... ...

स्वामीजी का देहांत हुआ ही नहीं है। देहांत तो तब होगा जब हम उनकी सच्ची देह को मिटाने की कोशिश करेंगे। अगर्चे कि सच्ची बात तो यह है कि हमारी कोशिश से भी उनकी देह का नाश होने को नहीं है। जबतक यह गुरुकुल कायम है, जबतक एक भी स्नातक गुरुकुल की सेवा करता है, तबतक स्वामीजी जीते ही हैं। स्वामीजी का शरीर तो किसी दिन गिरने को था ही। पर स्वामीजी का सबसे बड़ा काम गुरुकुल है, उन्होंने अपनी सारी शक्ति इसमें लगा दी थी। इसे पैदा करने में उन्होंने अधिक-से-अधिक तपश्चर्या की थी। तुमने सत्य की प्रतिज्ञा ली है। अगर तुम अपने वचन का पालन करोगे तो किसीकी शक्ति नहीं कि वह गुरुकुल को मिटा दे।

पर गुरुकुल को चिरस्थायी रखने के लिए उस वीरता, ब्रह्म-चर्य और क्षमा की जरूरत है, जो हमने उनके जीवन में देखी। वीरता का लक्षण क्षमा, और ब्रह्मचर्य और वीर्य का संयम है। वीरता और वीर्य की रक्षा से तुम देश और धर्म की पूरी-पूरी रक्षा कर सकोगे। मैं जानता हूं कि यह काम मुश्किल है। तुम्हारे यहां के बहुत-से विद्यार्थियों के पत्र मेरे पास पड़े हुए हैं! कोई मेरी स्तुति करता है तो कोई गाली देते हैं। स्तुति तो नाकाम चीज है। उसका असर मेरे ऊपर नहीं होता। परंतु जब विद्यार्थी चिढ़कर गाली देते हैं तो मुझे चिंता होती है क्योंकि क्रोध से वीर्य का नाश

[1] हिंदी नवजीवन, १३-१-२७

होता है। स्वामीजी के सामने मैंने ब्रह्मचर्य की अपनी व्याख्या रखी थी और वह मेरे साथ सम्मत थे। किसी स्त्री का मलिन स्पर्श न करने में ही ब्रह्मचर्य नहीं होता। हां, ब्रह्मचर्य वहां से शुरू जरूर होता है। पर क्षमा की पराकाष्ठा ब्रह्मचर्य का लक्षण है। पिछले साल स्वामीजी जब टंकारिया से लौटते समय मुझसे मिलने गये थे तो उन्होंने मुझसे कहा कि 'हिंदूधर्म की रक्षा-नीति से ही संभव है।' अगर तुम वैदिक आचार और विचार की रक्षा करना चाहते हो तो तुम यह वस्तु याद रखो कि तुम्हें पग-पग पर रुपये मिल जायंगे, मगर ब्रह्मचर्य का, नीति का पाया यहांपर न होगा तो तुम्हारा गुरुकुल मिट्टी में मिल जायगा इस भूमि के तो आत्मा नहीं है। इसकी आत्मा तुम्हीं हो। अगर तुम आत्म-बल खो दोगे और 'उदरनिमित्तं बहुकृतवेषः' जैसे बन जाओगे तो तुम्हारी सारी शिक्षा बेकार जायगी।

मैं आज तुम्हारे आगे चर्खा और खादी की बात करने नहीं आया हूं। तुम्हारा पहला काम ब्रह्मचर्य और वीरता का—क्षमा का है। उसे भूल जाओगे तो स्वामी जी का नाम कायम नहीं रहेगा। रशीद की गोली से स्वामीजी का क्या हुआ? वह तो उस गोली से ही अमर हुए।

स्वामीजी का दूसरा काम अछूतोद्धार था। जिन शब्दों में मालवीयजी ने खादी की वकालत की, मैं नहीं कर सकता। पर इतना जरूर कहूंगा कि अगर हम हमेशा गरीबों और अछूतों की फिक्र रखेंगे तो खादी से अलग नहीं रह सकते।

ईश्वर तुम सबके ब्रह्मचर्य, सत्य और तुम्हारी प्रतिज्ञाओं की रक्षा करे, गुरुकुल का कल्याण करे और स्वामीजी का हरेक काम परमात्मा चालू रखे! [1]

[1] हिंदी नवजीवन, ३१-३-२७

: २६ :

श्रीनिवास शास्त्री

दक्षिण अफ्रीका-निवासी भारतीयों को यह सुनकर बड़ी तसल्ली होगी कि माननीय शास्त्री ने पहला भारतीय राजदूत बनकर अफ्रीका में रहना स्वीकार कर लिया है, बशर्ते कि सरकार वह स्थान ग्रहण करने के प्रस्ताव को आखिरी बार उनके सामने रखे। भारत-सेवक-समिति और शास्त्रीजी ने यह बड़ा ही त्याग किया है, जो वह इस निर्णय पर पहुंचे हैं। यह तो एक प्रकट रहस्य है कि यदि यह प्रस्ताव नहीं किया जाता तो वह भारत में अपना काम छोड़कर इस जिम्मेदारी को अपने सिर पर लेने के जरा भी इच्छुक नहीं थे। परंतु जब उनसे साग्रह यह अनुरोध किया गया कि वह ही एक ऐसे आदमी हैं, जो उस समझौते के अनुसार कार्य शुरू कर सकते हैं, जिसके स्वीकृति कराने में उनका बहुत भारी हाथ रहा है, तो उन्हें इस प्रार्थना और आग्रह को मंजूर करना ही पड़ा। दक्षिण अफ्रीका से समय-समय पर जो तार भेजे गये थे उनसे हमें पता चलता है कि वहां के अंग्रेज भी इस बात के लिए कितने उत्सुक थे कि शास्त्रीजी ही इस सम्माननीय पद को ग्रहण करें। शास्त्रीजी की वक्तृत्व-शक्ति, निस्पृहता, मधुर विवेक-शीलता और असीम सचाई ने यूनियन सरकार और वहां के यूरो-पीय लोगों के हृदय में उनके लिए चाह और आदर उत्पन्न कर दिया, जब वह हबीबुल्ला-शिष्टमंडल के साथ कुछ दिन के लिए दक्षिण अफ्रीका गये थे। मैं खुद जानता हूं कि हमारे दक्षिण अफ्रीका-निवासी भाई इस बात के लिए कितने असीम चिंतातुर थे कि किस प्रकार शास्त्रीजी ही, वहां भारत के पहले राजदूत बनकर जायं। और श्रीयुत श्रीनिवास शास्त्रीजी के लिए भी तो, जिन्हें परमात्मा ने ऐसे उदार हृदय से भूषित किया है, ऐसे सर्वसम्मत अनुरोध को अस्वीकार करना असंभव था। अब यह प्रायः निश्चित है कि शीघ्र

ही उनकी बाकायदा नियुक्ति होकर, उसकी खबर प्रकाशित कर दी जायगी।

इन पहले राजदूत का काम भी उनके लिए निश्चित कर दिया जायगा। निस्संदेह, यूनियन सरकार और हमारे दक्षिण अफ्रीका के भारतीय भाई भी भारत के इस पहले राजदूत से बड़ी-बड़ी आशाएं तो करते ही होंगे। चूंकि शास्त्रीजी स्वयं भारतीय और एक विख्यात पुरुष हैं, निस्संदेह यूनियन सरकार जरूर यह सोचती होगी कि जहांतक भारतीयों से संबंध है, उन्हें समझा-बुझाकर शास्त्रीजी सरकार के प्रस्तावों आदि का काम सरल कर देंगे। दूसरे शब्दों में यों कहिये कि यूनियन सरकार उनसे आशा करती है कि शास्त्रीजी उसकी बातों को भारतीय समाज तथा भारत-सरकार के सामने सहानुभूति-पूर्वक रखेंगे। इधर भारतीय समाज भी आशा करता है कि शास्त्रीजी इस बात का जरूर आग्रह करेंगे कि समझौते का सम्मानयुक्त, बल्कि उदारता-पूर्वक पालन हो। दो प्रतिस्पर्धी उम्मीदवारों को संतुष्ट करना यों कठिन तो है ही; पर दक्षिण अफ्रीका में, जहां कि जातियों और दलों के स्वार्थों में आश्चर्यजनक पारस्परिक विरोध है, यह काम कहीं अधिक मुश्किल है। किंतु मैं जानता हूं कि अगर इस सूक्ष्म तराजू को अपने हाथ में कोई उठा सकता है और दक्षिण अफ्रीका से संबंध रखनेवाले सभी दलों को संतुष्ट कर सकता है तो अकेले शास्त्रीजी ही एक ऐसे आदमी हैं। मेरा खयाल है कि यूनियन सरकार के मंत्री यह तो अपेक्षा नहीं रखते होंगे कि भारतीय समाज को उसके न्याय्य स्वत्वों को दिलाने में शास्त्रीजी इंच भर भी पीछे हट जायं। हां, अधिक-से-अधिक शास्त्रीजी यह कर सकते हैं कि वह भारतीयों को १९१४ के समझौते का उल्लंघन करके आगे बढ़ने से रोकें, कम-से-कम तबतक तो जरूर रोकें, जबतक कि वहां के भारतीय अनुकरणीय आत्मसंयम और अपने अन्य व्यवहार द्वारा १९१४ में प्राप्त किये समझौते से आगे बढ़ने की अपनी पात्रता को सिद्ध नहीं कर देते। अतः यदि इस दक्षिण अफ्रीका के हमारे भारतीय भाई

भारत के प्रतिनिधि के काम को सरल और अपनी परिस्थिति को सुरक्षित कर लेना चाहें तो वे उनसे बड़े-बड़े चमत्कारों की आशाएं करना छोड़ दें। उनका यह अनुमान गलत होगा कि "चूंकि हम अभी एक सम्माननीय समझौता करा चुके हैं और उसपर अमल कराने के लिए भारत का एक महान पुरुष हमारे यहां आ रहा है, इसलिए अब तो हमारी परिस्थिति में एकदम कायापलट हो जायगा।" उन्हें याद रखना चाहिए कि माननीय शास्त्रीजी वहां उनके वकील बनकर, उनके प्रत्येक व्यक्तिगत शिकायत के लिए लड़ने को नहीं जा रहे हैं। उनको मामूली व्यक्तिगत शिकायतें सुना-सुनाकर परेशान करना उस सोने के अंडे देनेवाले पक्षी की हत्या करने के समान है। वह तो वहां भारतीय सम्मान के रक्षक बनकर जा रहे हैं। सर्वसाधारण भारतीय समाज के स्वत्व और स्वाधीनता की रक्षा के लिए वह वहां जा रहे हैं। शास्त्रीजी वहां यह देखने के लिए जा रहे हैं कि यूनियन सरकार कहीं कोई नवीन रुकावटी कानून न बनाने पायें। अलावा इसके वह देखेंगे कि वर्तमान कानूनों का पालन उदारता-पूर्वक तो हो रहा है। उनके पालन में भारतीयों के स्वत्वों को कोई हानि तो नहीं हो रही है, आदि। अतः यदि उनसे कोई व्यक्तिगत शिकायत की भी जाय तो वह किसी व्यापक सर्वसाधारण नियम का उदाहरण-स्वरूप हो। इस लिए यदि व्यक्तिगत मामलों में शास्त्रीजी की सहायता मांगने में दक्षिण अफ्रीका का भारतीय समाज दूरदर्शी संयम से काम न लेगा तो वह उनकी परिस्थिति को असह्य और उस महान् उद्देश्य के लिए उन्हें असमर्थ बना देगा जिसके लिए वह वहां विशेष रूप से भेजे गये हैं। और सचमुच एक राजदूत की उपयोगिता केवल यहीं समाप्त नहीं हो जाती कि वह केवल सरकारी पद से संबंध रखनेवाले अपने कर्तव्य का पालनभर कर ले, बल्कि उसकी वह अप्रत्यक्ष सेवा कहीं अधिक उपयोगी है जो सरकारी तथा गैरसरकारी कामों को लेकर उससे मिलने-जुलनेवाले लोगों पर उसके मिलनसार स्वभाव और सच्चरित्र के प्रभाव द्वारा होती है। अतः यदि

हमारे देशभाई शास्त्रीजी के दिमागी और हृदय के महान गुणों का उपयोग करना चाहें तो वे मेरी बताई उपर्युक्त मर्यादाओं का जरूर खयाल रखें।[1]

... ...

...इस सप्ताह में मिले पत्र में एक सज्जन ने क्लर्कस्‌डोप की प्रसिद्ध घटना का, जिसके बारे में दक्षिण अफ्रीका के अखबारों के पन्ने-के-पन्ने भरे रहते हैं, आंखों देखा सच्चा वर्णन किया है। यूनि-यन सरकार के निःसंकोच पूरी और स्पष्ट माफी मांग लेने से यद्यपि इस घटना पर राजनैतिक दृष्टि से अब कुछ भी कहना बाकी नहीं रह जाता है और न कुछ कहने की जरूरत ही है तो भी इस षड़यंत्र के सामने जिसका कि परिणाम श्री शास्त्रीजी के लिए प्राणांत भी हो सकता था, उन्होंने जो उदारता और हिम्मत का व्यवहार किया है उसकी प्रशंसा कितनी ही क्यों न की जाय वह कम ही होगी। मेरे सामने जो पत्र हैं उससे मालूम होता है कि जिस सभा में वह व्याख्यान दे रहे थे, उसको तोड़ देने के लिए डेप्टीमेयर के नेतृत्व में जो दल आया था उसने बत्तियां बुझा दीं, फिर भी वह भारत माता का सच्चा सपूत और प्रतिनिधि अपने स्थान पर यत्किंचित् भी घबड़ाये बिना डटा रहा, जरा भी न हटा और जब भड़ाका होने के कारण सभा के हाल में श्रोताओं को सांस लेना भी मुश्किल हो गया तब वह बाहर गये और वहां, जैसे कोई बात ही नहीं हुई हो, इस घटना के प्रति इशारा तक न करते हुए उन्होंने अपना व्याख्यान पूरा किया। यों तो इस घटना के पहले ही दक्षिण अफ्रीका के यूरोपियनों में वह प्रिय हो गये थे; परंतु शास्त्रीजी के इस धीर हिम्मतभरे और उदार आचरण ने वहां के यूरोपियनों के विचार में उन्हें और भी अधिक गौरवान्वित कर दिया है और क्योंकि उन्हें अपने लिए यश नहीं चाहिए था (शास्त्रीजी से अधिक कीर्त्ति से लजानेवाले मनुष्य कदाचित् ही मिल सकेंगे) उन्होंने,

[1] हिंदी नवजीवन, २८-४-२७

जिस काम के वह प्रतिनिधि थे, उसके लाभ में अपनी लोकप्रियता का बड़ी योग्यता और सफलता-पूर्वक उपयोग किया। दक्षिण अफ्रीका में उनके बहुत ही थोड़े समय के निवास में उन्होंने अपने देशवासियों का गौरव बहुत बढ़ा दिया है। हम यह आशा करें कि वहां के भारतीय अपने आदर्श व्यवहार से अपनेको उस गौरव के योग्य प्रमाणित करेंगे।

परंतु दक्षिण अफ्रीका के मुश्किल और नाजुक प्रश्न को हल करने में उनके कार्य का महत्व केवल इसीपर, जो एक घटना-मात्र है, निर्भर नहीं है। हम उनके दफ्तर की भीतरी कार्यवाही के विषय में, सिवा उनके परिणामों के कुछ नहीं जानते। पर इसमें उन्हें उस सारी राजनीति-कला का उपयोग करना पड़ता था जो अपने पक्ष के सत्य होने के विश्वास से प्राप्त होती है तथा जो झूठ, कपट तथा नीचता को कभी बरदाश्त नहीं कर सकती। परंतु हम यह जरूर जानते हैं कि संस्कृत और अंग्रेजी की अपार विद्वता और जुदा-जुदा विषयों का ज्ञान, वाक्यपटुता इत्यादि कुदरत से प्रचुरता में मिली हुई बख्शीशों को अपने कार्य के लिए उपयोग करने में उन्होंने कोई कसर नहीं की है। चुनंदा यूरोपियनों के बड़े श्रोतृ-समूह के आगे वह भारतीय तत्वज्ञान और संस्कृति पर व्याख्यान देते थे, जिससे उनके दिलों पर बड़ा असर होता था और उस पक्ष-पात के परदे को, जिसके कारण यूरोपियनों का बड़ा समूह अबतक भारतीयों में कोई गुण ही नहीं देख सकता था, उन्होंने पतला कर दिया है। दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के प्रश्न में, ये व्याख्यान ही शायद उनका सबसे बड़ा और अधिक स्थायी हिस्सा है।[१]

... ...

मौत ने न सिर्फ हमारे बीच से, बल्कि समूची दुनिया के

---

[१] हिंदी नवजीवन, १८-१०-२८

बीच से भारत-माता के एक बड़े-से-बड़े सपूत को उठा लिया है। उनके परिचय में आनेवाला हरकोई देख सकता था कि वह हिंदुस्तान को बहुत ही प्यार करते थे। पिछले दिनों जब मैं उनसे मद्रास में मिला था, उन्होंने सिवा हिंदुस्तान और उसकी संस्कृति के, जिनके लिए वह जीये और मरे, दूसरी किसी बात की चर्चा ही नहीं की। जब वह मृत्यु-शय्या पर पड़े दीखते थे, तब भी मुझे विश्वास है कि उनको अपनी कोई चिंता नहीं थी। उनका संस्कृत-ज्ञान अंग्रेजी के उनके अगाध ज्ञान से ज्यादा नहीं तो कम भी न था। मुझे एक ही बात और कहनी है और वह यह कि अगरचे राजनीति में हमारे खयाल एक-दूसरे से मिलते नहीं थे, तो भी हमारे दिल एक ही थे और मैं यह कभी सोच नहीं सकता कि उनकी देशभक्ति हमारे किसी बड़े-से-बड़े देशभक्त से कम थी। शास्त्रीजी जिंदा हैं, यद्यपि उनका नामधारी शरीर भस्म हो चुका है।[1]

: २७ :

नारायण हेमचंद्र

स्वर्गीय नारायण हेमचन्द्र विलायत आये थे। मैं सुन चुका था कि वह एक अच्छे लेखक हैं। नेशनल इंडियन एसोसिएशनवाली मिस मैनिंग के यहां उनसे मिला। मिस मैनिंग जानती थीं कि सबसे हिल-मिल जाना मैं नहीं जानता। जब कभी मैं उनके यहां जाता तब चुपचाप बैठा रहता। तभी बोलता, जब कोई बातचीत छेड़ता।

उन्होंने नारायण हेमचंद्र से मेरा परिचय कराया।

नारायण हेमचंद्र अंग्रेजी नहीं जानते थे। उनका पहनावा

---

[1] हरिजन सेवक, २१-४-४६

विचित्र था। बेढंगी पतलून पहने थे। उसपर था एक बादामी रंग का मैला कुचैला-सा पारसी काट का बेडौल कोट। न नेकटाई, न कालर। सिर पर ऊन की गुंथी हुई टोपी और नीचे लंबी दाढ़ी।

बदन इकहरा, कद नाटा कह सकते हैं। चेहरा गोल था, उसपर चेचक के दाग थे। नाक न नोकदार थी, न चपटी। हाथ दाढ़ी पर फिरा करता था।

वहां के लाल-गुलाल फैशनेबल लोगों में नारायण हेमचंद्र विचित्र मालूम होते थे। वह औरों से अलग छटक पड़ते थे।

"आपका नाम तो मैंने बहुत सुना है। आपके कुछ लेख भी पढ़े हैं। आप मेरे घर चलिये न ?"

नारायण हेमचंद्र की आवाज जरा भर्राई हुई थी। उन्होंने हंसते हुए जवाब दिया—

"आप कहां रहते हैं ?"

"स्टोर स्ट्रीट में।"

"तब तो हम पड़ोसी हैं। मुझे अंग्रेजी सीखना है। आप सिखा देंगे ?"

मैंने जवाब दिया—"यदि मैं किसी प्रकार भी आपकी सहायता कर सकूं तो मुझे बड़ी खुशी होगी। मैं अपनी शक्ति भर कोशिश करूंगा। यदि आप चाहें तो मैं आपके यहां भी आ सकता हूं।"

"जी नहीं, मैं खुद ही आपके पास आऊंगा। मेरे पास पाठमाला भी है। उसे लेता आऊंगा।"

समय निश्चित हुआ। आगे चलकर हम दोनों में बड़ा स्नेह हो गया।

नारायण हेमचंद्र व्याकरण जरा भी नहीं जानते थे। 'घोड़ा' क्रिया और 'दौड़ा' संज्ञा बन जाती है। ऐसे मजेदार उदाहरण तो मुझे कई याद हैं। परंतु नारायण हेमचंद्र ऐसे थे, जो मुझे भी हजम कर जायं। वह मेरे अल्प व्याकरण-ज्ञान से अपनेको भुला देनेवाले जीव न थे। व्याकरण न जानने पर वह किसी प्रकार लज्जित न होते थे।

"मैं आपकी तरह किसी पाठशाला में नहीं पढ़ा हूं। मुझे अपने विचार प्रकट करने में कहीं व्याकरण की सहायता की जरूरत नहीं दिखाई दी। अच्छा, आप बंगला जानते हैं? मैं तो बंगला भी जानता हूं। मैं बंगाल में भी घूमा हूं। महर्षि देवेंद्रनाथ टैगोर की पुस्तकों का अनुवाद तो गुजराती जनता को मैंने ही दिया है। अभी कई भाषाओं के सुंदर ग्रंथों के अनुवाद करने हैं। अनुवाद करने में भी शब्दार्थ पर नहीं चिपटा रहता। भावमात्र दे देने से मुझे संतोष हो जाता है। मेरे बाद दूसरे लोग चाहे भले ही सुंदर वस्तु दिया करें। मैं तो बिना व्याकरण पढ़े मराठी भी जानता हूं, हिंदी भी जानता हूं और अब अंग्रेजी भी जानने लग गया हूं। मुझे तो सिर्फ शब्द-भंडार की जरूरत है। आप यह न समझ लें कि अकेली अंग्रेजी जान लेने भर से मुझे संतोष हो जायगा। मुझे तो फ्रांस जाकर फ्रेंच भी सीख लेनी है। मैं जानता हूं कि फ्रेंच साहित्य बहुत विशाल है। यदि हो सका तो जर्मन जाकर जर्मन भाषा भी सीख लूंगा।"

इस तरह नारायण हेमचंद्र की वाग्धारा बे-रोक बहती रही। देश-देशांतरों में जाने व भिन्न-भिन्न भाषा सीखने का उन्हें असीम शौक था।

"तब तो आप अमेरिका भी जरूर ही जावेंगे।"

"भला इसमें भी कोई संदेह हो सकता है। इस नवीन दुनिया को देखे बिना कहीं वापस लौट सकता हूं!"

"पर आपके पास इतना धन कहां है?"

"मुझे धन की क्या जरूरत पड़ी है? मुझे आपकी तरह तड़क-भड़क तो रखना है ही नहीं। मेरा खाना कितना और पहनना क्या? मेरी पुस्तकों से कुछ मिल जाता है और थोड़ा-बहुत मित्र लोग दे दिया करते हैं, वह काफी है। मैं तो सर्वत्र तीसरे दर्जे में ही सफर करता हूं। अमेरिका तो डेक में जाऊंगा।"

नारायण हेमचंद्र की सादगी बस उनकी अपनी थी। हृदय भी उनका वैसा ही निर्मल था। अभिमान छू तक नहीं गया था।

लेखक के नाते अपनी क्षमता पर उन्हें आवश्यकता से भी अधिक विश्वास था।

हम रोज मिलते। हमारे बीच विचार तथा आचार-साम्य भी काफी था। दोनों अन्नाहारी थे। दोपहर को कई बार साथ ही भोजन करते। यह मेरा वह समय था, जब मैं प्रति सप्ताह सत्रह शिलिंग में ही अपना गुजरा करता और खाना खुद पकाया करता था। कभी मैं उनके मकान पर जाता तो कभी वह मेरे मकान पर आते। मैं अंग्रेजी ढंग का खाना पकाता था, उन्हें देशी ढंग के बिना संतोष नहीं होता था। उन्हें दाल जरूरी थी। मैं गाजर इत्यादि का रसा बनाता। इसपर उन्हें मुझपर बड़ी दया आती। कहीं से वह मूंग ढूंढ लाये थे। एक दिन मेरे लिए मूंग पकाकर लाये, जो मैंने बड़ी रुचि-पूर्वक खाये। फिर तो हमारा इस तरह का देने-लेने का व्यवहार बहुत बढ़ गया। मैं अपनी चीजों का नमूना उन्हें चखाता और वह मुझे चखाते।

इस समय कार्डिनल मैनिंग का नाम सबकी जबान पर था। डाक के मजदूरों ने हड़ताल कर दी थी। जानबर्स और कार्डिनल मैनिंग के प्रयत्नों से हड़ताल जल्दी बंद हो गई। कार्डिनल मैनिंग की सादगी के विषय में जो डिसरैलो ने लिखा था, वह मैंने नारायण हेमचंद्र को सुनाया।

"तब तो मुझे उस साधु पुरुष से जरूर मिलना चाहिए।"

"वह तो बहुत बड़े आदमी हैं। आपसे क्यों कर मिलेंगे ?"

"इसका रास्ता मैं बता देता हूं। आप उन्हें मेरे नाम से एक पत्र लिखिये कि मैं एक लेखक हूं। आपके परोपकारी कार्यों पर आपको धन्यवाद देने के लिए प्रत्यक्ष मिलना चाहता हूं। उसमें यह भी लिख दीजिएगा कि मैं अंग्रेजी नहीं जानता। इसलिए— अपना नाम लिखिए—बतौर दुभाषिए के मेरे साथ रहेंगे।"

मैंने इस मजमून का पत्र लिख दिया। दो-तीन दिन में कार्डिनल मैनिंग का कार्ड आया। उन्होंने मिलने का समय दे दिया था।

हम दोनों गये। मैंने तो, जैसाकि रिवाज था, मुलाकाती कपड़े पहन लिये। नारायण हेमचंद्र तो ज्यों-के-त्यों, सनातन ! वही कोट और वही पतलून। मैंने जरा मजाक किया, पर उन्होंने उसे साफ हंसी में उड़ा दिया और बोले—

"तुम सब सुधारप्रिय लोग डरपोक हो। महापुरुष किसीकी पोशाक की तरफ नहीं देखते। वे तो उसके हृदय को देखते हैं।"

कार्डिनल के महल में हमने प्रवेश किया। मकान महल ही था। हम बैठे ही थे कि एक दुबले से ऊंचे कदवाले वृद्ध पुरुष ने प्रवेश किया। हम दोनों से हाथ मिलाया। उन्होंने नारायण हेम-चंद्र का स्वागत किया।

"मैं आपका अधिक समय लेना नहीं चाहता। मैंने आपकी कीर्ति सुन रखी थी ! आपने हड़ताल में जो शुभ काम किया है, उसके लिए आपका उपकार मानना था। संसार के साधु पुरुषों के दर्शन करने का मेरा अपना रिवाज है। इसलिए आपको आज यह कष्ट दिया है।"

इन वाक्यों का तरजुमा करके उन्हें सुनाने के लिए हेमचंद्र ने मुझसे कहा।

"आपके आगमन से मैं बड़ा प्रसन्न हुआ हूं। मैं आशा करता हूं कि आपको यहां का निवास अनुकूल होगा और यहां के लोगों से आप अधिक परिचय करेंगे। परमात्मा आपका भला करें !" यों कहकर कार्डिनल उठ खड़े हुए।

एक दिन नारायण हेमचंद्र मेरे यहां धोती और कुरता पहन-कर आये। भली मकान-मालिकिन ने दरवाजा खोला और देखा तो डर गई। दौड़कर मेरे पास आई और बोली—"एक पागल-सा आदमी आपसे मिलना चाहता है।" मैं दरवाजे पर गया और नारायण हेमचंद्र को देखकर दंग रह गया। उनके चेहरे पर वही नित्य का हास्य चमक रहा था।

"पर आपको लड़कों ने नहीं सताया ?"

"हां, मेरे पीछे पड़े जरूर थे, लेकिन मैंने कोई ध्यान नहीं दिया तो वापस लौट गये।"

नारायण हेमचंद्र कुछ महीने इंगलैंड में रहकर पेरिस चले गये। यहां फ्रेंच का अध्ययन किया और फ्रेंच पुस्तकों का अनुवाद करना शुरू कर दिया। मैं इतनी फ्रेंच जान गया था कि उनके अनुवादों को जांच लूं। मैंने देखा कि वह तर्जुमा नहीं, भावार्थ था।

अंत में उन्होंने अमेरिका जाने का अपना निश्चय भी निबाहा। बड़ी मुश्किल से डेक या तीसरे दर्जे का टिकट प्राप्त कर सके थे। अमेरिका में जब वह धोती और कुरता पहनकर निकले तो असभ्य पोशाक पहनने का जुर्म लगाकर वह गिरफ्तार कर लिये गये थे। पर जहांतक मुझे याद है, बाद में वह छूट गये।[1]

●

---

[1] आत्म-कथा, १९२७